हिंदी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

HINDI KI DALIT STREE-PURUSH AATMAKATHAON KA TULANATMAK ADHYAYAN

[मिज़ोरम विश्वविद्यालय के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध]

A THESIS SUBMITTED IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

संजू शर्मा
SANJU SHARMA

MZU Regn.No. : 1701189
Ph.D. Regn.No.: MZU/Ph.D/1132 of 06.11.2017

हिंदी विभाग

DEPARTMENT OF HINDI

मानविकी एवं भाषा संकाय

SCHOOL OF HUMANITIES AND LANGUAGES

अगस्त-2022

हिंदी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

HINDI KI DALIT STREE-PURUSH AATMAKATHAON KA TULANATMAK ADHYAYAN

प्रस्तुति,

संजू शर्मा

हिंदी विभाग

By
Sanju Sharma
Department of Hindi

शोध-निर्देशक

डॉ. सुषमा कुमारी

Supervisor
Dr. Sushma Kumari

[मिज़ोरम विश्वविद्यालय के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध]

Submitted
In partial fulfilment of the requirement of the degree of Doctor of Philosophy in Hindi of Mizoram University, Aizawl.

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम : संजू शर्मा

शिक्षा : पीएच.डी

विभाग : हिन्दी

शोध-प्रबंध का शीर्षक : हिन्दी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

प्रवेश शुल्क के भुगतान की तिथि : 31.07.2017

शोध प्रस्ताव की संस्तुति :

(1) डी.आर.सी. : 26.09.2017

(2) बी.ओ.एस. : 01.11.2017

(3) स्कूल बोर्ड : 06.11.2017

मिज़ोरम विश्वविद्यालय पंजीयन संख्या : 1701189

पीएच.डी.पंजीयन संख्या : MZU/PH.D/1132 of 06.11.2017

भूमिका

दलित आत्मकथा लेखन में दो वर्ग नजर आते हैं - पहला दलित पुरुष आत्मकथा है और दूसरा दलित स्त्री आत्मकथा है। दलित पुरुष आत्मकथाओं की संख्या अधिक है जबकि स्त्री आत्मकथाओं की संख्या बहुत कम । तब मन में यह सवाल आता है कि वह कौन से कारक हैं जिसके कारण दलित स्त्रियाँ लेखन में इतनी पिछड़ी हुई हैं।

दलित स्त्रियों के पिछड़ेपन का कारण स्वयं दलित समाज है, जो उन्हें संस्कारों के नाम पर बांधे हुए है और शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने नहीं दे रहा है। दलित समाज भी ठेठ परंपरावादी पितृसत्तात्मक सोच से ही ग्रसित है। आधुनिक अस्मितावादी विमर्शों में अपनी अलग पहचान स्थापित करने वाले स्त्री विमर्श ने भी दलित स्त्री के उत्पीड़न और शोषण को नहीं समझा, परिणामस्वरूप पूरा विमर्श सवर्ण स्त्री विमर्श बन कर रह गया। दलित विमर्श में अस्पृश्यता मुख्य मुद्दा है, मगर दलित स्त्री यहां दोहरी मार झेल रही है। क्योंकि दलित पुरुष पितृसत्तात्मक मानसिकता से उनका शोषण कर रहे हैं साथ ही सवर्ण स्त्री-पुरुष जाति और पितृसत्तात्मक सोच दोनों के आधार पर इनका उत्पीड़न कर रहे हैं। विडंबना यह है कि हर तरह से उत्पीड़ित होने के बाद भी दलित स्त्री दोनों ही विमर्शों से बाहर है।

सदियों की पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए दलितों ने ऐतिहासिक कार्य किए जो कि साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी रूपों में देखे जा सकते हैं। यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों के ही ओजस्वी रूप देखने को मिलते हैं। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि जूठन की प्रथा का काला सच अपनी मां के द्वारा हमारे सामने रखते हैं। सदैव के लिए जूठन की दासता को समाप्त करने में

इनकी बड़ी भूमिका रही। कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे ने अपने दलित समाज के अत्याचारी पुरुषों का पर्दाफाश करते हुए इस विमर्श को नए आयाम दिए।

इस शोध प्रबंध का विषय **"हिंदी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन"** है। इस शोध कार्य में दलित स्त्री की कुल 5 आत्मकथाओं और दलित पुरुष की 12 आत्मकथाओं को शामिल किया गया है जिसके आधार पर दलित समुदाय में स्त्री और पुरुष की स्थिति की तुलना की गयी है। इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है पहला अध्याय है- **'दलित विमर्श: अवधारणा और वैचारिकी'**। इस अध्याय में चार उप-अध्याय रखे गए हैं। पहले उप-अध्याय में **'दलित' : अर्थ एवं परिभाषा'** के माध्यम से दलित शब्द के शाब्दिक और पारिभाषिक अर्थ का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। दूसरे उप-अध्याय में '**दलित विमर्श की अवधारणा'** की शुरुआत से लेकर दलित मुक्ति के प्रयास हेतु संघर्ष की लंबी परंपरा की जांच पड़ताल की गई है। तीसरे उप-अध्याय में **'दलित विमर्श की वैचारिकी और अंबेडकरवाद'** के तहत दलित विमर्श के जन्म के कारण और इनसे जुड़े विभिन्न विद्वानों के विचारों को हम जान सकेंगे। साथ ही यहाँ डॉ. अंबेडकर की विचारधारा और अंबेडकरवाद का उदय कैसे हुआ इसका विवरण दिया गया है। चौथे उप-अध्याय में **'दलित राजनीति और दलित विमर्श'** की जानकारी मिलेगी। दलितों के उत्थान में दलित राजनीति की भूमिका का मूल्यांकन इसका प्रमुख उद्देश्य है।

दूसरा अध्याय **'दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज, पारिवारिक जीवन और उत्पीड़न का स्वरूप'** है। इस अध्याय को तीन उप-अध्याय में विभाजित किया गया है। पहले उप-अध्याय में दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त **समाज** के स्वरुप को दिखाया गया है। इसमें स्त्रियों को कौन-कौन सी बंदिशें समाज द्वारा प्राप्त हुई हैं, जिससे उनका विकास अवरुद्ध हुआ है

इसकी जानकारी दी गई है। एक तो स्त्री और वह भी दलित इसीलिए उनके शोषण का स्तर भी दोनों ही तरफ का होगा। साथ ही सवर्ण महिलाओं से भी उपेक्षा पाकर वे तीहरे शोषण का शिकार होती नजर आती हैं। दूसरे उप-अध्याय में दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त **पारिवारिक जीवन** को देख पाएंगे। जहां वे पितृसत्ता की मार के साथ-साथ जातिवाद का दंश भी सहन कर रही हैं। तीसरे उप-अध्याय में दलित स्त्री आत्मकथाओं में दलित स्त्रियों के **उत्पीड़न** का स्तर एवं उसकी भयानकता से रू-ब-रू हो पाएंगे है।

तृतीय अध्याय **'दलित पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज, पारिवारिक जीवन एवं उत्पीड़न का स्वरूप'** है। इस अध्याय को तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले उप-अध्याय में दलित पुरुष की आत्मकथाओं में अभिव्यक्त **समाज** के स्वरुप को देख पाएंगे। यहां दलित पुरुषों के निजी अनुभव एवं प्रताड़ना की दास्तान बताई गई है। यूं तो पुरुषों को पितृसत्ता के पोषक एवं शोषणकारी रूप में दिखाया जाता है। किंतु दलित पुरुषों को जाति एवं गरीबी (सामाजिक और आर्थिक) के कारण समाज में काफी शोषण सहना पड़ता है। दूसरे उप-अध्याय में दलित पुरुषों के पारिवारिक जीवन, स्थितियों और परिस्थितियों की मार्मिक पड़ताल है। तीसरे उप-अध्याय में दलित पुरुष आत्मकथाओं में उत्पीड़न के विविध रूप और स्वरूप को एक धरातल प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

चौथे अध्याय में **'दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन'** किया गया है। इस अध्याय को चार उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले उप-उध्याय में स्त्री और पुरुष की छवि और दलित स्त्री -पुरुष दृष्टियों की तुलना की गयी है। दूसरे उप-अध्याय में मनुवादी पितृसत्ता की पहचान का प्रश्न उठाया गया है। दलित समाज में स्त्रियों की मनुवादी मानसिकता

की पीड़ा को स्त्री-पुरुष दोनों ही आत्मकथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। तीसरे उप-अध्याय में उत्पीड़न और प्रतिरोध के दृश्य हैं। यहां हम देख सकेंगे कि स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मकथाओं में उन्हें समाज से किस तरह के उत्पीड़न का सामना करना पड़ा और उनकी प्रतिरोध की दृष्टि कैसी थी। साथ ही स्त्रियों को समाज एवं परिवार से जिस तरह की मानसिक यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा, उसका किस तरह से मुखर विरोध किया गया इसका मूल्यांकन भी यहां किया गया है। चौथे उप-अध्याय में मुक्ति की राह है। यहां उत्पीड़न और प्रताड़ना से छुटकारा एवं उन्मुक्त होने के लिए मुक्ति की कौन सी राहें दिखाई देती हैं और उनका स्वरूप कैसा था इसके बारे में जान पाएंगे।

पंचम अध्याय **'दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं की कथावस्तु एवं भाषा की तुलना'** है। पंचम अध्याय को दो उप-अध्याय में विभाजित किया गया है **कथावस्तु** एवं **भाषा**। कथावस्तु के माध्यम से हम जान सकेंगे कि पुरुषों की आत्मकथाओं की मुख्य पृष्ठभूमि क्या है और वहां कौन सी समस्याएं दिखाई गई है। भाषा के माध्यम से हम यह जान सकेंगे कि दलित वर्गों की आम बोलचाल की भाषा कैसी है और साहित्य में उसका किस तरह से प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा पर अनगढ़ता, अश्लीलता और असाहित्यिकता के जो आरोप लगे हैं उनका भी विवेचन-विश्लेषण किया गया है। कहीं-कहीं लौकोक्तियाँ एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है। यहां लोकगीतों का भी जमकर प्रयोग है। भाषा में मिश्रित शब्दावली का प्रयोग हम देख सकते हैं। अंत में उपसंहार दिया गया है जिसके तहत सभी अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध विषय को चुनने और इसकी योजना में मेरी शोध निर्देशक डॉ. सुषमा कुमारी का अमूल्य योगदान रहा है। उनके सुझाव के अनुसार ही मैंने इस विषय का चयन किया, साथ ही

इसका एक दूसरा कारण यह है कि मेरे एम.फिल का विषय भी दलित विमर्श और स्त्री विमर्श दोनों के समन्वय पर आधारित रहा है। इस वजह से भी इस विषय में मेरी दिलचस्पी रही थी। मैं तहे दिल से उनको धन्यवाद करती हूं। मैं अपने को सौभाग्यशाली मानती हूं कि वह मेरी शोध-निर्देशक बनी। उनकी तेज बुद्धि और सहज स्वभाव के कारण मेरे शोध कार्य के दौरान इतनी मुश्किलें नहीं आई हैं। मेरी गलतियों पर कभी-कभी वह डांट भी लिया करती हैं, परंतु स्नेह भी बहुत करती हैं। इनके विनम्र स्वभाव की वजह से मुझ में आत्मविश्वास बढ़ा। मिजोरम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अन्य शिक्षकों का भी तहे दिल से धन्यवाद करना चाहूंगी - प्रो. सुशील कुमार शर्मा, प्रो. संजय कुमार, डॉ. अमिष वर्मा और डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा। हमारे संजय सर और सुशील सर का स्वभाव बड़ा कोमल है। वह हर बात हंसते-मुस्कुराते हुए समझाते हैं। जिसके कारण भी मेरे मन से भय एवं संकोच कम हो पाया। हिंदी विभाग के शोधार्थी दिवेश जी से परिचय इसी थीसिस जमा करने के क्रम में हुआ। उन्होंने इस थीसिस को पूरा करने में एक अहम् भूमिका निभायी है। थीसिस की बाइंडिंग करवाने में बड़ी मदद की है। अपना बहुमूल्य समय निकाल कर मेरी मदद करने के लिए मैं दिवेश जी की आजीवन आभारी रहूँगी।

मेरे पूर्व विश्वविद्यालय राजीव गांधी विश्वविद्यालय के शिक्षकों की भी तहे दिल से मैं आभारी हूं। हालांकि मैं अब उस विद्यालय की छात्रा नहीं रही। फिर भी वे मुझसे ऐसे मिलते हैं मानो अभी भी मैं वही पढ़ाई कर रही हूं। उनसे जैसा अपनापन मिला वह मेरी स्मृति में हमेशा रहेगा। राजीव गांधी विश्वविद्यालय के आचार्य अभिषेक सर, शर्मा सर, लेगो सर, जमुना मेम, सिंह सर, राजीव रंजन सर, सत्यजीत सर, यालम मेम इन सभी की मैं आभारी हूं। लाइब्रेरियन

पांडे जी की भी मैं आभारी हूं उन्होंने शोध कार्य के दौरान पुस्तकें तलाशने में मेरी बहुत मदद की और हैरानी की बात तो यह है कि इतने वर्ष हो गए मेरा राजीव गांधी विश्वविद्यालय से संपर्क टूटे हुए, फिर भी आज तक वह मुझे पहचानते हैं।

कोई भी कार्य परिवार के सहयोग के बिना पूरा नहीं हो सकता। अपने परिवार के बिना मैं अस्तित्वहीन हूं। उन्होंने हर कदम पर मेरा साथ दिया। मेरी मां जिनकी दृढ़ निश्चयता की मैं हमेशा कायल रही हूं। मेरे पिता नहीं रहे, फिर भी उनकी हंसमुख छवि और पढ़ाई के प्रति रुचि ने मुझे आगे बढ़ने में प्रेरित की, उनका वजूद और आशीर्वाद सदैव मेरे साथ जीवित है। मेरे दोनों भाई अनूप और अरूप जिनको हिंदी की कोई जानकारी नहीं है, फिर भी वह कोशिश करते हैं कि जितनी मुमकिन हो सके मेरी मदद करें। मेरी बहन रंजू जो मिजोरम विश्वविद्यालय में मेरे साथ ही पीएच.डी. कर रही है। वह भी मेरे इस सफर का अहम् हिस्सा रही है। दरअसल वही मुझे यहां लाई थी। इस तरह से दोनों का पीएच.डी. का सफर साथ शुरू हो गया।

मेरे दोस्तों ने भी इस शोध कार्य को पूरा करने के लिए समय समय पर मेरी हिम्मत बढ़ाई। आईनाम, जमुना दी, सरिता, रेबॉम, आपी, आशा, शतरूपा, नजराना, दिव्या, कबीर, जीबाती और गिटारता का विशेष योगदान रहा है। जमुना दी ने अधिकतर सहायक ग्रंथ उपलब्ध कराकर मेरी बहुत मदद की। जीबाती और गिटारता दोनों के लैपटॉप से मैंने अपना टंकण का काम किया। उन दोनों की मदद के बगैर मेरा टंकण का कार्य कभी भी सही समय पर समाप्त नहीं हो पाता इसीलिए मैं उन सभी का तहे दिल से धन्यवाद करती हूं।

- संजू

हिंदी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्रमाण पत्र	
घोषणा पत्र	
भूमिका	i-vi
प्रथम अध्याय : दलित विमर्श : अवधारणा और वैचारिकी	1-69
(क) दलित : अर्थ एवं परिभाषा	
(ख) दलित विमर्श की अवधारणा	
(ग) दलित विमर्श की वैचारिकी और अम्बेडकरवाद	
(घ) दलित राजनीति और दलित विमर्श	
द्वितीय अध्याय : 'दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज, पारिवारिक जीवन	70-127
एवं उत्पीड़न का स्वरूप'	
(क) समाज	
(ख) पारिवारिक जीवन	
(ग) उत्पीड़न	
तृतीय अध्याय : दलित पुरुष आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज, पारिवारिक जीवन	128-195
एवं उत्पीड़न का स्वरूप	
(क) समाज	
(ख) पारिवारिक जीवन	
(ग) उत्पीड़न	
चतुर्थ अध्याय : दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन	196-287
(क) स्त्री और पुरुष की छवि : दलित स्त्री-पुरुष दृष्टियों की तुलना	
(ख) मनुवादी पितृसत्ता की पहचान का प्रश्न	
(ग) उत्पीड़न और प्रतिरोध की दृष्टि	
(घ) मुक्ति की राह !	
पंचम अध्याय : दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं की कथावस्तु एवं भाषा की तुलना	288-339
(क) कथावस्तु (ख) भाषा	
उपसंहार :	340-344
संदर्भ ग्रंथ सूची : (क) आधार ग्रंथ (ख) सहायक ग्रंथ (ग) पत्रिकाएँ	345-351
अनुसंधित्सु का बायो- डाटा	352
अनुसंधित्सु का विवरण	353

प्रथम अध्याय

दलित विमर्श : अवधारणा और वैचारिकी

(क) दलित : अर्थ एवं परिभाषा

(ख) दलित विमर्श की अवधारणा

(ग) दलित विमर्श की वैचारिकी और अम्बेडकरवाद

(घ) दलित राजनीति और दलित विमर्श

(क) दलित : अर्थ एवं परिभाषा - दलित व्यापक अर्थ में उन वर्गों को माना जाता है जो दबा, कुचला और अपने अधिकारों से वंचित रहा है। जो हजारों वर्षों से ब्राह्मणवाद के शिकंजे में फंसे हुए है। जो सदियों से समाज का सबसे निम्न और तुच्छ वर्ग समझा जाता रहा है। जिन्हें समाज की गंदगी साफ करने के लिए रखा जाता है। दलितों के मसीहा ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में कहें तो- "दलित शब्द व्यापक अर्थ बोध की अभिव्यंजना देता है, भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ो, वनों के बीच जीवन यापन करने के लिए बाध्य जनजातियाँ और आदिवासी, जरायम पेशा घोषित जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित है। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चोबीसों घण्टे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मज़दूर दलित की श्रेणी में आते हैं।"[1]

दलित जन्म से ही दलित पैदा नहीं होते है बल्कि उन्हें मज़बूरन बनना पड़ता हैं। क्योंकि सवर्णों द्वारा उनके पास अन्य कोई विकल्प छोड़ा ही नहीं जाता है। उन्हें जन्मजात रूप से इस अभिशाप भरे जीवन को चुनने के लिए समाज मजबूर करता है।

दलित शब्द की परिभाषा को मनुष्यता से जोड़ते हुए डॉ. धर्मवीर का मानना है कि- "मनुष्य एक संभावना है। हर दलित मनुष्य की संभावनाओं पर किसी भी रूप में रोक लगाते हैं। दूसरी तरफ से इस चिंतन से इतना और कहने की जरूरत है कि मनुष्य केवल हिन्दू नहीं है अथार्त् दलित भी मनुष्य है।"[2]

दलितों को मनुष्यता के स्तर से हटाकर पशुता के स्तर पर रखा गया है। या यूँ कहे कि पशुओं से भी निम्न स्तर पर विद्यमान किया गया है। क्योंकि पशुओं को भी स्पर्श किया जाता है। परन्तु दलितों को तो अपनी छाया से भी सवर्ण दूर रखते हैं। पुराने जमाने में तो दलितों के गले में

घंटी बाँध दी जाती थी। ताकि उसकी आवाज़ से सवर्णों को यह पता लग जाये कि दलित आ रहे हैं और सवर्ण उन्हें दूर से हटने को आगाह कर सकें।

"दलित से तात्पर्य एक विशिष्ट व सामाजिक आचरण से है। जिसके आधार पर एक विशिष्ट वर्ग को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आधार से वंचित रखते हुए इनके अधिकारों का हनन करते हुए सामाजिक ढाँचे में इतना निम्न स्थान दिया जाता है कि वे दूसरों से स्पर्श के योग्य भी नहीं रह जाते हैं।"[3]

दलित वर्ग को उनके निच होने का अहसास दिलाकर हर अधिकार से वंचित किया जाता है। किन्तु सवर्णों के हिसाब से ईश्वर केवल उनके लिए हैं। मानो उनकी कोई निजी संपत्ति हो। दलित अशिक्षा एवं अंधविश्वास के कारण इसी को सच मान लेते हैं। ब्राह्मणों ने इन्हें मूर्ख और गुलाम बनाये रखने के लिए अपनी क्रूर बुद्धि का इस्तेमाल करते हुए इन्हें शिक्षा की परछाई से भी दूर रखा है।

दलित पत्रिका 'अस्मितादर्श' के संपादक डॉ. गंगाधर पानतावणे कहते हैं कि – "दलित इस देश में दबाए-सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदत्तर जिन्दगी जीने को अभिशप्त है। वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ-बूझ के साथ विकसित की गई हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का, जिसने की मानव के रूप में उसके अस्तित्व का निरन्तर निरादर किया, जिसके मृतप्राय शरीर को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगाववाद का बोध उन हजारों-हजारों दलितों के पुर्नजागरण का अक्षयस्त्रोत है।"[4]

दलित शब्द का अर्थ है पीड़ित, अपमानित, उपेक्षित, शोषित वर्ग जिसमें स्त्रियों को भी शामिल किया गया हैं- "दलित शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसमें दबाये गये, अपमानित,

पीड़ित, उपेक्षित, शोषित सभी आते हैं। इसमें स्त्रियां औऱ शूद्र वर्ग में आने वाली पिछड़ी जातियाँ और अति पिछड़ी जातियाँ भी हैं जो दलितों की भाँति शिक्षा, संपत्ति एकत्र करने से वंचित है और अपमानजनक जीवन जीने को विवश हैं।"[5]

दलित से तात्पर्य है रौंदा हुआ, दबा-कुचला जिन्हें अन्य जातियों के जैसे न सम्मान मिला न अधिकार - "रौंदा, कुचला हुआ पदाक्रांत वर्ग हिन्दुओं में वे शूद्र जिन्हें अन्य जातियों के समान अधिकार प्राप्त नहीं है।"[6]

संविधान में दलितों को एक विशेष नाम से अभिहित कर उनके लिए कुछ विशेष प्रावधान किए गए हैं ताकि उन्हें अपना मानवाधिकार प्राप्त हो सके जिसके तहत - "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है।"[7]

दलितों को मार्क्सवादियों ने सर्वहारा के समान माना है। किन्तु सर्वहारा अस्पृश्यता का शिकार नहीं होते हैं। जबकि दलित मानवाधिकार से वंचित होने के साथ-साथ अस्पृश्य समाज के भीतर आते है- "दलित शब्द मार्क्स प्रणित सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। किन्तु इन दोनों में अंतर भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक 'दलित' व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।"[8]

दलित अनुसूचित जातियों को कहा जाता है जो अस्पृश्यता से उत्पीड़ित होती हैं और उनके लिए वही काम निश्चित किए गए हैं जो बाकी अन्य जातियों के लिए वर्जित हैं - "दलित वह

है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया और जिन अछूतों पर सामाजिक निर्योग्ताओं की संहिता लागू की वही दलित हैं और उसके अंर्तगत वही जातियाँ आती हैं जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"[9]

दलित वर्ग में दास, मज़दूर और वे सभी लोग या सकते हैं जो आर्थिक स्थिति निम्न होने के कारण सामाजिक, आर्थिक साथ ही धार्मिक रूप से उत्पीड़ित होते हैं- "यह समाज का निम्नतम वर्ग होता है। जिसको विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ- दास प्रथा में दास, सामंतवादी व्यवस्था में किसान, पूंजीवादी व्यवस्था में मज़दूर समाज का दलित वर्ग कहलाता है।"[10]

कुछ लोग यह मानते हैं कि दलित मतलब जो लोग चमार, भंगी, जुलाहा जातियों से संबंध रखते हैं वे ही दलित हैं, किन्तु एक सामान्य अर्थ और परिभाषा के संदर्भ में देखें तो समाज में चाहे कोई भी मनुष्य हो जो मनुष्यता की आड़ में पीड़ित हो रहे है वही दलित माने गये हैं - "दलित शब्द की मिली-जुली परिभाषाएँ हैं। इसका अर्थ केवल बौध्द या पिछड़ी जातियाँ ही नहीं समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित है।"[11]

समाज में जो जन्म उपरान्त ही अस्पृश्यता के दायरे में आ जाते है वही दलित है। वर्ण व्यवस्था में जिन्हें सबसे निम्न कोटी का समझा गया है उन्हें दलित की श्रेणी में रखा जाता है- "जो समाज व्यवस्था के तहत सबसे निचले पायदान पर हैं, वर्ण-व्यवस्था ने जिसे अछूत या अत्यंत नीच की श्रेणी में रखा है। तथा जिसका दलन और शोषण हुआ है। इस समूह को ही सविधान में अनुसूचित जातियाँ कहा गया है जो जन्मना अछूत है।"[12]

दलित शब्द के अर्थ को लेकर कई विद्वानों में मतभेद है। इसकी भी दो श्रेणी बन गई हैं। एक श्रेणी केवल जाति के आधार पर दलित मानती है। दूसरा वर्ग उनका है जो दलित का अर्थ यह समझते हैं कि समाज में जितने भी वर्ग उत्पीड़ित और शोषण का शिकार हो रहे हैं वह दलित माना जायेगा - "जिन्हें दलित माना गया है उनकी विशेष जाति नहीं है। यह शब्द मनुष्य की पतितावस्था, दुरावस्था तथा लाचारी और शोषण का द्योतक है। एक मान्यता यह भी हो सकती है कि सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से जिसका शोषण होता है, स्वतंत्रता, समता और प्रगति से अपरिचित रहकर अपने मालिक की गुलामी करता है और जिसके जीवन में ज्ञान या प्रकाश के अभाव में अज्ञान या अंधेरा ही अंधेरा छाया हुआ रहता है, ऐसा व्यक्ति दलित है। चाहे उसकी जाति ब्राह्मण ही क्यों न हो इस व्यापक अर्थ में केवल गरीब और अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ ही दलित नहीं है। बल्कि इनकी भाँति दयनीय और कष्टमय जीवन बिताने वाले सभी मज़दूर, किसान, नौकर, नारियाँ, भूमिहीन, बेघर जैसे सभी लोग जो आर्थिक विपन्नावस्था से मनुष्य की तरह सम्मान से जी नहीं सकते वे सभी दलित है। परन्तु दलित साहित्य के समर्थक इस व्यापक अर्थ को अस्वीकार करते हैं और जाति तथा वर्ण संदर्भित अर्थ को ही ग्रहण करते है जिसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।"[13]

अंग्रेजी प्रशासन के समय से ही दलित शब्द का प्रयोग होता रहा है। जिसमें 'डिप्रेस्सड क्लास' यानि की वंचित वर्ग को दलित कहा गया था।

'राजेन्द्र यादव' दलित शब्द को काफी व्यापक दायरे में देखते हैं। वे स्त्रियों को भी दलित मानते हैं। लेकिन डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन उनके इस तर्क से सहमत नहीं है। उनका कहना है :

'इससे साहित्य में सही स्थिति सामने नहीं आती। सामाजिक रूप से जाति के नाम पर शोषित वर्गों की छटपटाहट की दास्तान हैं, दलित साहित्य।'

सभी उत्पीड़ित वर्ग को अगर एक ही दायरे में ला दिया जाये तो दुविधा की स्थिति पैदा हो जाती है। ऐसे मे यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि कौन कितना पीड़ित है और किन्हें दलित कहें? इसलिए बेचैन जी कहते है कि एक ही वर्ग को ही दलित में शामिल करना चाहिए।

श्री हर्ष मंदर की मान्यता भी उल्लेखनीय है, "दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ गरीब और उत्पीड़ित व्यक्ति से है। लेकिन यह नई संस्कृति पैदा करने के संदर्भ में ध्वनित होता है। दलित व्यक्ति अपने नीचे की जमीन तोड़ते हैं और वे ऊपर उठने के लिए सचेतन रूप से सक्रिय प्रयास करते हैं। निश्चित अवधि में मुख्यतः यह शब्द पूर्व के अस्पृश्यों के लिए प्रयोग होता है। यद्यपि अधिकांश स्थिति में कभी-कभी विस्तृत क्षेत्र में उत्पीड़ित वर्ग भी शामिल होता है। जैसे- आदिवासी महिलाएँ, बंधुआ मज़दूर और अल्पसंख्यक आदि।"[14]

दलित शब्द को गरीब, अल्पसंख्यक, मज़दूर आदि माना गया है। यह दबे हुए और अस्पृश्य मनुष्यों के लिए प्रयोग में आता है। दलित होने के कारण व्यक्ति हर क्षेत्र से वंचित और बहिष्कृत कर दिया जाता है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, "गाँधी जी 'हरिजन' से यह आशय लेते थे कि वह ईश्वर के बच्चे हैं। वे चाहते हैं कि अस्पृश्यों को शिव के अनुयायी 'हरिजन' कहा जाए। श्री गाँधी जी जवाब देते हैं कि इसमें प्रयुक्त टर्म अर्थ ईश्वर और विष्णु नहीं है। सीधे अर्थ में 'हरिजन' ईश्वर के बच्चे हैं।"[15] अम्बेडकर गाँधी के हरिजन शब्द और उसकी व्याख्या को बिल्कुल नहीं मानते हैं। दलित वर्ग ने भी इसे नकारा है, इस शब्द को अपनाने से इंकार किया है।

"'दलित' शब्द की व्याख्या निश्चित करनी होगी। दलित केवल हरिजन और नवबौद्ध नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मज़दूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती हैं। दलित शब्द की परिभाषा में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।"[16] दलित शब्द का अर्थ व्यापक है। इसमें हर वह वर्ग शामिल हैं। जिसे दमित और उत्पीड़ित किया जाता है।

दलित और गैर-दलित लेखकों और आलोचकों (ओमप्रकाश वाल्मीकि, कँवल भारती, मोहन दास नैमिशराय, शरण कुमार लिम्बाले, राजेंद्र यादव, चन्द्रकुमार बरठे आदि) द्वारा 'दलित' शब्द के अर्थ और उसकी अवधारणा का अर्थात 'दलित' कौन हैं, 'दलित' किसे कहा और माना जाये? पर दिये गए विचारों का विवेचन विश्लेषण के बाद 'दलित' शब्द के अर्थ और उसकी परिभाषाओं के बारे में कहा जा सकता है कि 'दलित' कुछ खास जातियों का वह समूह है, जिसे संविधान में 'अनुसूचित जाति' का दर्जा दिया गया है। इस शब्द की अपनी ऐतिहासिकता है, साथ ही 'दलित' शब्द सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनैतिक आन्दोलन के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। 'दलित' शब्द का प्रयोग सदियों से शोषित-उपेक्षित, समाज से बहिष्कृत, अछूत जाति के लोगों को उनके अधिकारों का बोध कराने तथा उन्हें संघर्ष के लिए एकजुट करने की राजनीति का हिस्सा रहा है।

(ख) <u>दलित विमर्श की अवधारणा</u> : 'दलित' शब्द के पारिभाषिक और व्यापक अर्थ का विविध आयामों से विश्लेषण करने के बाद दलित विमर्श ने जो जरूरी सैद्धांतिक सवाल उठाए जिनका जवाब उन्होंने व्यावहारिक ढंग से देने की कोशिश की, इस उप-अध्याय में उन्हीं की आलोचनात्मक पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। जैसे – दलित कौन है? दलित साहित्य क्या है? दलित साहित्य कौन लिख सकता है? आदि। इसके अतिरिक्त एक बड़ा सवाल यह है कि

वे कौनसे कारक रहे जिस से दलित सदियों से गुलामी और परतंत्रता की यातना से गुजरा, इसी विमर्श के केंद्र में देश के विभिन्न भागों में दलित चेतना का क्या स्वरूप रहा है , इस पर भी विस्तृत दृष्टि डाली गई है।

दलितों द्वारा बनाए गए शब्दकोश में दलित शब्द के अनेकों अर्थ देखने को मिलते है- रौंदा हुआ, कुचला हुआ, दबाया हुआ, मसला हुआ इत्यादि। कोई इसे शूद्र कहता है, कोई हरिजन और कोई दलित।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अपने ग्रंथों में अस्पृश्य के लिए डिप्रेस्ड, अनटचेवल, बहिष्कृत आदि शब्दों को पयार्य के रूप में प्रयुक्त किया है। अतः स्पष्ट है कि अस्पृश्य व्यक्ति ही दलित है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार- "दलित वर्ग स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग है। यद्यपि उन्हें अछूत कहा जाता है, किन्तु वे हिन्दू जाति के किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं है। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अनेक, अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक, अन्य जातियाँ अत्यंत दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किन्तु दलित वर्गों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अंतर केवल इतना है कि कृषि-कर्मियों और नौकरों के साथ अस्पृश्यता का बरताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अस्पृश्यता के अभिशाप का शिकार है। उन्हें मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है।"[17]

गरीबी से घिरे हुए लोगों की कमी नहीं है भारत वर्ष में, किन्तु गरीबी के भीतर रहते हुए मानवीय गुणों से पूरी तरह वंचित रह रहे हैं। दलित कितना संघर्ष कर रहे हैं ताकि अपने अधिकार प्राप्त कर सकें।

दलित वर्षों की त्रासदी अपने भीतर झेल रहे है। जब उन्हें अपनी स्थिति का सही ज्ञान हुआ तो उनके मन में इसे बदलने की छटपटाहट बढ़ गई। इसी छटपटाहट को जब साहित्य के रूप में लाकर लोगों तक जागरूकता फैलायी तो वही विमर्श का रूप ले लेती है। साहित्य ही वह मंच है जहाँ से हम एक साथ कई लोगों तक अपना संदेश पहुँचा सकते हैं। मराठी के दलित साहित्यकार सूर्यनारायण रणसुभे कहते हैं - "भूख के अलावा और किसी भी प्रकार की जरूरत को दलितों में उभरने नहीं दिया गया था। श्रम और भूख तथा भूख और श्रम यही तक इनकी जीवन यात्रा को सीमित कर दिया गया था। अपने अस्तित्व को लेकर सोच की शक्ति उभरने लगी है। अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति मनुष्य जब सजग हो उठता है, तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह छटपटाने लगता है। स्थूल रूप से इसे ही दलित साहित्य कहा जाता है।"[18]

मनुष्य को उसकी जाति से नहीं वरन उसकी बुद्धि के बल पर जाँचना चाहिए। इसी चीज को प्रामाणिक बनाने के लिए आंदोलन चले। जहाँ ब्राह्मणवाद का प्रपंच अब और नहीं चल सकता। इसी दलितोद्धार का पक्ष लेकर उन्के हित एवं रक्षा को ध्यान में रखकर, इस तरह के आंदोलन भारत में आरम्भ हुए- "महात्मा फुले ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सन् 1873 ई. में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की और जातिभेद, धर्म-भेद जैसी नीति पर हमले किए। इस प्रकार वेदों, श्रृतियों और पुराणों के सिद्धांतों और मतों का खण्डन किया। शब्द की अपेक्षा विचार बुद्धि को उन्होंने अधिक प्रामाणिक माना। उनके सत्य शोधक आंदोलन ने दीन दलितोद्धार का पक्ष लेकर उनकी हित की रक्षा की, इस दृष्टि से दलितों के द्वारा इतिहास में इस आंदोलन का स्थान ऊँचा माना जाएगा। यह आंदोलन शोषितों, दुर्बलों की विद्रोह चेतना की अभिव्यंजना थी।

सत्य शोधक आंदोलन सामाजिक दासता में अनेक बरसों तक दबे हुए दलितों के प्रथम प्रतिकार की आवाज़ थी।"[19]

धर्म और ईश्वर के नाम पर किसी भी गलत काम को आसानी से अंजाम दिया जा सकता है। जब समाज में एक ही वर्ग पढ़ रहा हो और बाकि इनकी गुलामी करते हो वहाँ अज्ञानता के चलते अंधविश्वास का जहर फैलाना सबसे आसान तरीका होता है। यही काम ब्राह्मणों ने दलितों को सदैव अपना गुलाम बनाये रखने के लिए किया। मनु द्वारा लिखित 'मनुस्मृति' में दलितों को सताने के सारे तरीके लिखे हुए हैं। इस ग्रंथ को महात्मा फुले जी ने 'अपवित्र ग्रंथ' घोषित कर इसका बहिष्कार किया है- "महाराष्ट्र में सन् 1818 का समय आया। यह समय ब्राह्मणों द्वारा धर्म के नाम पर जन सामान्य के शोषण का समय था। इस शोषण का आधार मनुस्मृति की पुरानी मान्यताओं की गलत-सलत व्याख्याएँ थी। इसलिए महात्मा फुले ने मनुस्मृति के विरोध में उसे 'अपवित्र ग्रंथ' घोषित किया। इस स्थिति में जन-सामान्य विशेष कर दलित जाति की दशा अत्यंत दयनीय थी। ऐसे विषम सामाजिक जीवन को निकट से देखकर महात्मा फुले ने परिस्थितियों का गहन विश्लेषण किया। उन्होंने हज़ारों शुद्रों को संगठित करके सामाजिक विषमता के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया।"[20]

अभी इसी के विस्तार रूप में दलित विमर्श के नाम से क्रांति हो रही है। ऐसा नहीं है कि यह अभी की घटना है। अनादि काल से यह समस्या समाज में विद्यमान थी। भक्ति काल में संतों द्वारा अपनाया गया आक्रामक रूप इस छुआछूत की बीमारी के ही कारण आरम्भ हुआ था। इस अत्याचार और शोषण का ही परिणाम है कि लोग ईश्वर भक्ति को छोड़ कर निर्गुण धर्म के उपासक बन गये। कबीर द्वारा लिखी गई इन पंक्तियों से यह ज्ञात होता है कि यह अपमानित

भरा जीवन तब के लोगों ने भी झेला था। तभी समाज के प्रति एक प्रकार से विद्रोह की भावना उनमें पैदा हो गई थी। कबीर लिखते हैं-

"जाति-पांति पूछे नहिं कोई।

हरि को भजै सों हरि को होई।"[21]

यहाँ कबीर ने जाति के नाम पर किये ढोंग के प्रति अपना क्रोध व्यक्त किया है। दलित एक नकार भाव वाला शब्द है। जिसे सुनते ही यह समझ में आ जाता है कि यह वर्ग प्रताड़ना का शिकार हैं।

साहित्य लोकोपयोगी, हितकर होना चाहिए। जो साहित्य केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता है वह साहित्य ही नहीं है, एक भ्रम मात्र ही है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज में घटित अच्छाइयों के साथ-साथ बुराइयों को भी खुलकर बोलने और लिखने का माध्यम होता है। जिस पर दलित साहित्य पूरी तरह से खरा उतरता है। दलित साहित्य सामाजिक परिवर्तन या बदलाव का एक सर्वोच्च उपाय है।

दलित लेखक यह मानते हैं कि दलित साहित्य केवल दलितों को ही लिखना चाहिए। गैर-दलित अगर इसे लिखते हैं तो यह एक प्रकार की बेमानी है। वह दलितों को सहानुभूति की निगाह से देखते हैं और दलितों को सहानुभूति नहीं चाहिए। उनके लिए यह भीख के बराबर है। किन्तु यहाँ सवाल यह है कि अगर आपकी कोई मदद करना चाहे तो इसमें बुरा ही क्या है? वे आपके दर्द को महसूस कर पा रहे हैं तभी तो इसे दुनिया के सामने लाने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे में उन्हीं को अपना दुश्मन समझना गलत है। चर्चित मराठी दलित लेखक डॉ. शरण कुमार लिम्बाले के शब्दों में- "गैर दलितों के लेखन में सहानुभूति और दया की दृष्टि होती है। हमें

सहानुभूति और दया नहीं चाहिए, अधिकार चाहिए। हमें मानवतावादी उदार दृष्टिकोण से नफरत है। यह दृष्टिकोण हमारे सदियों के संताप को नज़रंदाज करता है। हमें यह गैर-दलित सफेदपोश गुंडा लगता है। गैर-दलितों के साहित्य को दलित साहित्य कहना साहित्यिक व संस्कृतिक छल और हेरा-फेरी है। यह बात में गैर-दलितों के संदर्भ में कह रहा हूँ।"[22] एक-एक ऊँगली मिल कर ही मुठ्टी बनती है और अगर आप लोगों की ऊँगली तोड़ने लगें तो चीजें कभी नहीं बदलेंगी।

दलितों के प्रति जागृति की भावना दलितों द्वारा ही आरंभ की गई। स्वामी अछूतानंद दलितों को आदि हिन्दू मानते हैं यानि की भारत के मूल निवासी के रूप में समझते हैं। परन्तु वे वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर नहीं थे। वे अपनी कविता के माध्यम से अनादि काल के हिन्दू को जगाने की चाह रखते हैं। उन्होंने उन्हें ही हिन्दुस्तान के मूल निवासी कहा है-

"जब से आर्य हिन्द में आए
तब से तुम्हें गुलाम बनाए हैं
यह भेद बतलाए
जरा ऋग्भेद मंत्र पड़ताले।"[23]

वे आगे लिखते हैं-

"अहो दासन की कृपा दृष्टि हरि कीजै।
जो ये प्राचीन निवासी, इस हिन्दुस्तान के निवासी
जिन्हें कर दीये कमजौरे,
वे आर्य थे या कि अनारी, जो बन का अत्याचारी

छीन लिये धन-जन ठौरे।"

वे अछूतों को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करते हुए आगे लिखते हैं-

"जहाँ तुम करते बूदों वास, है यह देश तुम्हारा खास।

देखो जरा खोल इतिहास दस्यु आर्यों का युद्ध निकालों"[24]

स्वामी जी केवल इतिहास को ही नहीं दोहराते थे, बल्कि दलितों में चेतना का स्वर भरने का कार्य भी करते थे जो उनकी निम्न पंक्तियों से स्पष्ट द्रष्टव्य है-

"यदि खून में कुछ जोश हो,

ओ बेहोश कौमों जो होश हो।

तो क्यों पड़े खामोश हो,

जागों बहुत बरबाद हो।"[25]

वे दलितों को गहरी नींद से जगाने की चेष्टा करते हैं। आगे की पंक्तियाँ हैं-

"सोते तुम्हें मुद्दत हुई,

तज नींद अब तो जागिए

हजम होते वंश अपने को

तो जल्द बचाइए।"[26]

स्वामी अछूतानंद की उपरोक्त पंक्तियाँ जोश से भरी हुई हैं। जहाँ दलितों को जगाने की बात कही गई है। वे न सिर्फ अस्पृश्यों को जगा रहे थे बल्कि शूद्रों यानि पिछड़े वर्ग को भी जगा रहे थे। 6-7 अक्टूबर 1928 को आदि हिन्दू कॉन्फेंस में स्वामी अछूतानंद जी ने अपने भाषण कुछ इस तरह से ओजस्वी ढंग से आरम्भ किया था-

"शुद्रों गुलाम रहते, सदियों गुजर गई हैं।

जुल्मों सितम को सहते, सदियों गुजर गई हैं

अब तो जरा विचारो, सदियों गुजर गई हैं।

अपनी दशा सुधारो, सदियों गुजर गई हैं।"[27]

बाबा साहब अम्बेडकर महाराष्ट्र में दलितों का नेतृत्व कर रहे थे और स्वामी अछूतानंद उनका साथ दे रहे थे। उत्तर भारत में दलितों को हक दिलाने की कोशिश कर रहे थे। वे संत नहीं थे, गृहस्थ व्यक्ति थे। किन्तु सामाजिक कार्य करते थे। लोक कल्याण की भावना से अपना काम कर रहे थे- "सन् 1932 ई. में लंदन में हुई गोलमेज कॉन्फ्रेंस में डॉ. अम्बेडकर अछूतों के प्रतिनिधि नेता थे, और गाँधी जी ने अपने को सम्पूर्ण जनता का नेता कहा था। विशेषकर वे दलितों के स्वयंभू पक्षधर बनकर सामने आए थे। तब अछूतानंद ने डॉ. अम्बेडकर के समर्थन में 500 तार भिजवाए।"[28] इस से पता चलते हैं समाज उद्धार हेतु उनके असली प्रयास और समर्पण।

दलित चिंतन की सबसे बड़ी समस्या यह है कि गैर दलित लोग इस चिंतन का प्रतिनिधित्व करने का दावा पेश कर जाते हैं। यह दलितों के मार्ग में रुकावट है। उनकी मदद करना एक बात है किन्तु उन्हीं को धमका कर चुप करा दिया जाए और बोलें कि ये तो असभ्य हैं सही ढंग से बोल नहीं पायेंगे। यह एक प्रकार से सबसे बड़ा धोखा है। अगर कोई बीमार है तो उसे क्या तकलीफ है इसे वही तो सही तरह से बता पायेगा। डॉक्टर उसे बिना बोलने देकर इलाज कैसे कर सकता है। लंदन की गोलमेज सभा में गाँधी जी का यह कहना कि- "मैं उन (डॉ. अम्बेडकर) का अस्पृश्यों का प्रतिनिधि होने का दावा स्वीकार नहीं करता उनका प्रतिनिधि मैं हूँ।"[29] गांधी जी के प्रति टकराहट का एक प्रमुख कारण बन गया। तभी डॉ. अम्बेडकर ने गाँधीजी

के इस दावे के बारे में कहा था- "इस दावे के बारे में मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि गैर-जिम्मेदार लोग ऐसे झूठे दावे किया ही करते हैं जबकि सच यह होता है कि उन दावों से संबंधित लोग उन्हें सदा ही नकारते हैं।"[30]

इस तरह का प्रतिरोध करना बहुत जरूरी है। तभी चीजें बदल सकती हैं। आपकी समस्या है उसका समाधान भी आप स्वयं ही सुचारू रूप से कर पायेंगे। जैसे अम्बेडकर जी ने गाँधी जी की बात को नकारा। हो सकता है, ऐसा पहले भी किया गया हो। किन्तु उस आवाज़ को दबा दिया गया था। क्योंकि उनके पास शिक्षा का हथियार मयस्सर नहीं था।

सिर्फ लिखते रहने और बहस करते रहने से अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। इसके लिए जरूरी है जिस चीज़ के लिए आप लड़ रहे है, उसमें हिस्सा लेना। राजेन्द्र यादव जी कहते हैं - "आरक्षण को कई लोग बहुत बुरा समझते हैं। कहते हैं कि आरक्षण इस समस्या का हल नहीं है। लेकिन मैं मानता हूँ कि आरक्षण एक हद तक इस समस्या का हल जरूर है। आरक्षण अगर नहीं होगा, तो दलित और स्त्री सामाजिक न्याय की लड़ाई कैसे लड़ेंगे? यह असमान शक्तियों की लड़ाई है। कमजोरों को ताकतवरों से लड़ने के लिए कोई सहारा तो चाहिए। जिनको आपने कभी बढ़ने नहीं दिया, जिनको आपने कभी अवसर नहीं दिया, उन्हें शिक्षा और नौकरियाँ आदि में आरक्षण नहीं मिलेगा, तो वे कभी आगे आ ही नहीं सकते। अगर आप उनको कहेंगे कि पहले शिक्षा लो, पहले मेरिट लाओ, पहले काम का अनुभव लाओ, तब तो आप इन चीजों की दौड़ में उनसे इतना आगे निकल चुके होंगे और इनका रूप बदल चुके होंगे कि वे तो आपके बराबर कभी आ ही नहीं सकते। जब तक आप यह अवसर नहीं देंगे, वे आगे नहीं आ सकेंगे। आरक्षण से आगे

आए बहुत से दलित अफसर आज दिखाई देते हैं। उनको सम्मान मिलता ही था न मिलता हो, लेकिन वे दिखाई तो देते हैं। आगे तो आए हैं। इसलिए आरक्षण जरूरी है।"[31]

दलित वर्ग सभी समाज में बहुत पीछे हैं। आरक्षण ही वह माध्यम है जिनके बदोलत थोड़ा चल तो पा रहे है। कम-से-कम उन्हें ये तो पता है कि अगर हम उस जगह तक जायेंगे तो कुछ तो मिलेगा ही। इन्हें मौका देना चाहिए ताकि बहुत आगे न सही साथ तो चल पाये। समाज जहाँ है, वहाँ वे भी शामिल हो सकें। यादव जी आगे लिखते हैं- "आरक्षण के अलावा सामाजिक न्याय के जो दूसरे तरीके हो सकते हैं, उनमें से किन्हीं क्रांतिकारी तरीकों में मेरा विश्वास नहीं है। होना यह चाहिए कि लेखक, चिंतक और बुद्धिजीवी सामाजिक न्याय की जरूरत को बार-बार रेखांकित करें और सामाजिक कार्यकर्ता उनकी बातों को लागू करने की कोशिश करें। लागू कराने के तरीके जनतांत्रिक हों, क्योंकि हमारे यहाँ जनतंत्र अभी है, समाप्त नहीं हो गया है। दूसरे तरीके भी हो सकते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान में उनकी संभावना मुझे लगती नहीं है। कम्युनिस्टों ने जो तरीके अपनाए या जो तरीके नक्सलवादियों ने अपनाए, उनसे कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं होगा। अगर उन्हीं तरीको से काम करना है, तो उन्हें अपनी पूरी रणनीति बदलनी होगी। इसके लिए यह होना चाहिए कि लेखक, विचारक और बुद्धिजीवी एजेंडा तैयार करें और सामाजिक कार्यकर्ताओं से उनका संवाद हो। अभी तो हालत यह है कि सामाजिक कार्यकर्ताओं का संवाद लेखकों बुद्धिजीविओं से बहुत कम है या बहुत कैजुअल है। अब जैसे अरूँधति राय, मेधा पाटकर के नर्मदा बचाओं आंदोलन से जुड़ी है, तो इसका असर लोगों पर पड़ रहा है। सारे मीडिया का ध्यान इसकी ओर गया है कि स्टार लेखिका एक सोशल एक्शन से जुड़ी है। यह और बात है कि वह स्टार थी, इसीलिए मीडिया उस पर इतना ध्यान दे रहा है। लेकिन इससे यह तो हो रहा है

कि उसे देखकर सारे लेखकों के मन में यह विचार आता है कि हम अभी तक लिखते ही रहे हैं। बातें और बहसें ही करते रहे हैं। अगर हमें सचमुच कुछ करना है। कोई परिवर्तन लाना है। तो जहाँ-जहाँ ये सोशल एक्शन हो रहे हैं। वहाँ जाकर हमें उनसे जुड़ना चाहिए।"[32]

समाज में परिवर्तन तभी संभव है जब लोग आपस में एक-दूसरे की तकलीफों को समझें। भारत में आर्थिक सुधार और उसे एक सर्वसंपन्न देश बनाने की बात कही जाती है। किन्तु यह भारत में मुमकिन नहीं है, क्योंकि जाति और धर्म के नाम पर ही इतने दंगे, हंगामा और झगड़े होते रहते हैं। ऐसे में भारत एक उन्नत देश कैसे बन पायेगा? डॉ. अम्बेडकर के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण को देखा जाना चाहिए। वे कहते हैं कि- "धर्म, सामाजिक स्थिति और संपत्ति ये तीनों प्रभुता के स्त्रोत हैं। आज के यूरोपीयन समाज में संपत्ति की प्रमुखता है, किन्तु भारत में धर्म और सामाजिक व्यवस्था का सुधार किए बिना आप आर्थिक सुधार नहीं कर सकते। क्या भारत का सर्वहारा वर्ग ऐसी क्रांति लाने को इकट्ठा हो पाएगा? उसके लिए उसे प्रेरणा तभी मिल सकती है जब उसे विश्वास हो जाए कि जिनके साथ वह काम कर रहा है वे समता, बंधुता और न्याय के लिए संघर्ष कर रहे हैं तथा क्रांति के बाद वर्ण, जाति और धर्म का कोई भेद नहीं रहेगा। कम्युनिस्टों का केवल यह कहना काफी नहीं है कि- "मैं जाति भेद को नहीं मानता।"[33]

जाति के नाम पर विषमताओं को ज्यादात्तर राजनैतिक पार्टी मामूली समझती हैं। पंडित जवाहर लाल नेहरू के लिए दलितों की समस्या गैर जरूरी और बेहद मामूली बात है। भारत की उन्नति के लिए सर्वहारा को न्याय मिले। समाज में उनका अस्तित्व स्थापित हो यह कोई जरूरी बात नहीं है। जबकि डॉ. अम्बेडकर के लिए जाति एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बनकर आती है। वे कहते हैं

कि- "किसी भी दिशा में मुडें, जाति का राक्षस रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। इस राक्षस को मारे बगैर न तो कोई राजनीतिक सुधार संभव है न आर्थिक।"[34]

भारत में वामपंथी पार्टियों द्वारा कभी भी सचेतन रूप से जाति विरोध का आंदोलन एजेंडे पर लाया ही नहीं गया। इसका मुख्य कारण यह था कि 'जाति मुक्ति' का आंदोलन वामपंथियों के लिए हमेशा से ही 'बेहद मामूली' काम माना गया है। इसका एक बड़ा उदाहरण मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी के चिंतक नंबूदरीपाद की किताब-हिस्ट्री ऑफ द इंडियन फ्रीडम स्ट्रगल है जिसमें वे पूना पैक्ट के दौरान हुई गाँधी-अंबेडकर की बहसों पर अपने विचार रखते हैं- "बहरहाल जंगे आजादी के लिए यह एक ध्यान मुकम्मल आजादी के सवाल से हटकर 'हरिजन-उत्थान' के बेहद मामूली काम की तरफ चला गया।"[35]

अगर भारत के बहु समुदाय की दलित की समस्या को मामूली कह कर छोड़ दिया जाये तो ऐसे देश की स्वतंत्रता किस काम की। एक वर्ग सारा सुख का जीवन जीता रहे और दूसरा वर्ग गुलामी की जिन्दगी जीये। ऐसे हालातों में देश की स्वतंत्रता का क्या मूल रह जाता है?

अधिकांश वामपंथी विश्लेषक जाति आधारित सामाजिक व्यवस्था में दलित समुदाय को उसकी अस्मिता और पहचान देने की जगह इसे सिर्फ एक वर्ग ही मानते हैं । वामपंथी के लिए किसी भी प्रकार का पृथकतावादी आंदोलन साम्राज्यवादी साजिश है और क्रांति विरोधी है। गरीब व्यक्ति अमीर बन सकता है। किन्तु कोई भी जाति का व्यक्ति अपनी जाति नहीं बदल सकता है। वह जब उस जाति में रहता है, तो उसे समाज के कटु व्यवहार झेलना ही पड़ता है। बहुत से क्रांतिकारियों को दलित प्रश्न, साहित्य और विमर्श, सुविधा भोगी मध्यमवर्गीय विमर्श के रूप में दिखाई देता है। वे इसकी मूल संवेदना को कभी समझ ही नहीं पाये। वे मार्क्स–लेनिन के

दिखाए गए रास्ते पर ही चल रहे हैं। उससे नीचे उतरकर जमीनी हकीकत को तलाशने की कभी कोशिश ही नहीं करते हैं। बस वह अपनी क्रांति को आंदोलन का नाम देकर भ्रम स्थापित करते हैं।

जाति की समस्या भारत में बहुत बड़ी समस्या है। यह मार्क्सवादी विचारक समझने की चेष्टा नहीं करते हैं। अंबेडकरवादी चिंतकों की एक महत्त्वपूर्ण शिकायत मार्क्सवादी चिंतकों से यह है कि सांप्रदायिक फासीवाद के नाम पर तो वे आंदोलन खड़े कर देते हैं, किन्तु सामाजिक फासीवादी की ओर उनकी नज़रें नहीं जाती है। दलितों के घर जलाए जाते है, उन्हें पकड़ कर बिना कारण पीटा जाता है। इस तरह के सामाजिक फासीवाद को विमर्शकार, गंभीरतापूर्वक नहीं लेते हैं । इस मुख्य समस्या को 'सेक्युलरवाद' की आड़ में अनदेखा कर दिया जाता है। क्योंकि इनके लिए यह समस्या जरूरी और ध्यान देने लायक नहीं है। अंबेडकरवाद का मानना है कि यह 'सेक्युलरवाद' का नारा 'जाति विमर्श' की प्रतिक्रिया स्वरूप ही दिखाई देता है। प्रमुख दलित चिंतक कांचा इलैय्या कहते हैं कि- "तथाकथित सेक्युलर ऊँची जातियों ने आज फिर एक बार मंडलीकरण की प्रक्रिया में बाधा डालने के इरादे से 'सेक्युलर बनाम सांप्रदायिकता' का एक क्लास चालू कर दिया है। इस काम को करने में तमाम तरह की विचारधाराओं के झंडे तले संगठित ऊँची जातियों ने बहुत सक्रिय भूमिका निभाई भी है। इनमें सामाजवादी भी शामिल हैं, कम्युनिस्ट भी और कांग्रेस मार्का उदार-जनवादी भी। नेतृत्वकारी भूमिका तो अलबत्ता ब्राह्मणवादी कम्युनिस्टों ने ही अदा की है।"[36]

महात्मा फुले मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतंत्रता को महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य गुलाम रहेगा तो उसका विकास नहीं होता है। मानवीय गुणों का ख्याल रखते हुए व्यक्तिगत रूप से हर मनुष्य को अधिकार, और आजादी मिलनी ही चाहिए। वे अपनी पुस्तक गुलामगिरी में

लिखते हैं - “हर मनुष्य को आज़ाद होना चाहिए, यह उनकी बुनियादी जरूरत है। जब व्यक्ति आजाद होता है तब उसे अपने मन के भावों और विचारों को स्पष्ट रूप से दूसरों के सामने प्रकट करने का मौका मिलता है।.....आज़ाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवीय अधिकार प्राप्त कर लेता है और असीम आनंद का अनुभव करता है।”[37]

वे दासता को समाज और इंसान के लिए अमानवीय कारण मानते रहे हैं। गुलामगिरी में वे गुलामों पर होते आये अत्याचार के बारे में बताते हुए कहते हैं कि- “अमरीकी लोगों ने आज सेकड़ों सालों से चली आ रही इस गुलामी की अमानवीय परम्परा को समाप्त करके गरीब अबोध लोगों को उन चंद लोगों के जुल्म से मुक्त करके उन्हें पूरी तरह से सुख की जिन्दगी बख्शी है।” वे आगे लिखते हैं- “इन बातों को जानकर शूद्रों-अतिशूद्रों को अन्य लोगों की तुलना में बहुत ही ज्यादा खुशी होगी, क्योंकि गुलामी की अवस्था में गुलाम लोगों को, गुलाम जातियों को कितनी यातनाएँ बर्दाश्त करनी पड़ती हैं, इसे स्वयं अनुभव किए बिना अंदाजा करना नामुमकिन है। जो सहता है, वही जानता है।”[38]

फुले जी के हिसाब से भारत को केवल अंग्रेजों से मुक्ति दिलाने का ही कार्य नहीं था। वरन वे सामाजिक जागरूकता फैलाकर ब्राह्मणवाद के शिकंजे से दलितों को मुक्त कराना चाहते थे। जिसमें उन्होंने बहुत ही क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। फुले ने ब्राह्मणवाद को षड्यंत्र और ढोंग कहा है। दलितों को मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने कुछ सूत्र ध्यान से रखे हैं जिनकी अनुपालना को उन्होंने दलितों के लिए निवार्य माना है। शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे समाज में परिवर्तन लाए जा सकते हैं। उन्होंने शूद्रों-अतिशूद्रों को भारत का मूल निवासी माना है जबकि सवर्ण जातियों को विदेशी आक्रांता बताया। उनका कहना था कि जितने भी सवर्ण थे वह शिक्षित थे, वह अपने

शिक्षा का फायदा उठाकर भारत के मूल निवासियों को अंधविश्वास के चक्रव्यूह में फंसाकर उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुलाम बना के रखे है। उन्होंने गुलामी और आजादी को आमने-सामने रखकर उसका विश्लेषण किया। उन्होंने जनता में यह जागरूकता फैलाने की कोशिश की कि तुम गुलाम हो अपनी उसी पीड़ा को समझो। स्वयं को आज़ाद कराने के लिए आगे बढ़ो। संतों के काल में भी ज्ञान के प्रकाश जला कर लोगों में क्रांति लाने की कोशिश की गई। परन्तु वे उतना सफल नहीं हो पाए। इसका मूल कारण था, उनकी सीमा बंधी हुई थी। और वह सीमा थी अज्ञानता की। अगर वे शिक्षित होते तो दलितों को उनका अधिकार बहुत पहले ही प्राप्त हो चुका होता। यह संतों की कमजोरी थी जिसका लाभ सवर्णों ने उठाया और उनकी आवाज़ को धर्म की आड़ में सफलता पूर्वक छिपा दिया। फुले जी ज्ञान (शिक्षा)पर बहुत अधिक बल देते हुए कहते हैं -

"शिक्षा के अभाव से बुद्धि का ह्रास हुआ।

बुद्धि के अभाव से नैतिकता की अवनति हुई।

नैतिकता के अभाव से प्रगति अवरुद्ध हो गई।

प्रगति के अभाव से संपत्ति लुप्त हो गई।

संपत्ति के अभाव से शूद्र मिट गए।

सारी विपत्तियों का आविभार्व अकेले अज्ञान से हुआ।"[39] दलित विमर्श के नवजागरण में फुले जी का बहुत ही बड़ा योगदान रहा है।

जहाँ एक ओर फुले जी ब्राह्मण वर्चस्व के विरोध में थे तो दूसरी ओर तमिलनाडु में रामास्वामी नायकर पेरियार ईश्वरवाद को ही नकारते हुए सामाजिक परिवर्तन एवं सुधार लाने की बात करते हैं । उन्होंने सीधे-सीधे ईश्वर की सत्ता को चुनौती दी और कहा कि- "ईश्वर नहीं है,

जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह दुष्ट है और जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है।" उनका ईश्वर को चुनौती देना कबीर की वाणी की तरह था। वही आक्रोश और उन्हीं की तरह ईश्वर को झूठा कहते हैं। उन्होंने रामायण का 'सच्ची रामायण' के रूप मे भाष्य लिखा और रामायण का विश्लेषण किया। इसकी भूमिका में वे कहते हैं- "राम और सीता में किसी प्रकार की कोई दैवी तथा स्वर्गीय शक्ति नहीं है। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त कर चुकने के बाद गौरांगों (आर्यों) की प्रतिमाएँ तथा प्रसिद्धि उन स्थानों में ले जाई गई और आर्यों के देवताओं के नाम पर उनके नाम रख लिए गए। तमिलनाडु के जिन निवासियों की नसों में पवित्र द्रविड़ रुधिर खौलता, उनका यह कर्तव्य है कि वे आर्यों की उस प्रतिष्ठा तथा सभ्यता को, जो तमिलनाडु के विचारों और सम्मान को दूषित करती है, मिटा देने की शपथ ले।"[40]

पेरियार का यह आंदोलन आर्य बनाम द्रविड़ को लेकर चला था। उन्होंने राम को शोषणकारी व्यवस्था का प्रतिनिधि माना है। उन्होंने रामायण में बंदर-भालू कहकर द्रविड़ समुदाय (मूल निवासियों) का अपमान किया गया है। इसलिए तमिलनाडु में राम की मूर्तियों को तोड़ने से लेकर जूतों की मालाएँ पहनने जैसा जन-आंदोलन चलाया। पेरियार द्वारा लिखी विवेचना पुस्तक का असर केवल दक्षिण भारत में ही नहीं बल्कि उत्तर भारत के दलित आंदोलन और दलित चेतना के विकास पर भी हुआ। दलित चिंतक कंवल भारती बताते हैं कि- "उनमें ब्राह्मणवाद के खिलाफ इतना जबरदस्त विद्रोह था कि उन्होंने दशहरे के अवसर पर रावण-दहन के विरुद्ध राम-लक्ष्मण और भारत के पुतले जलवाए थे।"[41] उन्होंने माना है कि रावण ने द्रविड़ समुदाय का शोषण किया है। पेरियार का आंदोलन दलित समुदाय के लिए सम्मान प्राप्ति का आंदोलन था। उन्होंने द्रविड़ अस्मिता के साथ जोड़कर उत्तर दक्षिण तथा पश्चिमी भारत के दलित

आंदोलन के बीच एकसूत्रता कायम करने की कोशिश की। इस आंदोलन में ईश्वरीय सत्ता और शास्त्रों को नकारा है। इनका मानना था कि लोग धर्म के ही नाम पर अपना खेल आरम्भ करते हैं और लोगों में गलत मान्यता उजागर करके गुलाम बनाया जाता है। यह प्रक्रिया मानसिक तौर पर होते हुए शारीरिक गुलामी का रूप ले लेती है। इसीलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उन्हें यह मौका प्रदान ही न किया जाये। यह पहला और साहसी कार्य था उनके द्वारा। लोग धर्म के नाम पर बहुत अधिक भावुक एवं उस से गहरे में जुड़े हुए होते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी मान्यताओं और भावों के विरुद्ध कार्य करना कोई साधारण बात नहीं थी। जब वे हिन्दू-ब्राह्मणवादी शास्त्रों का विवेचन-विश्लेषण कर रहे थे तभी उन्होंने ईश्वर की सत्ता को पूर्णतः नकार दिया था। उन्होंने 'सच्ची रामायण' की शुरुआत में ही कहा है कि- "रामायण और बरेथम (महाभारत) आर्य ब्राह्मणों द्वारा चालाकी और चतुरतापूर्ण निर्मित प्राचीन कल्पित कथाएँ है। वे द्रविड़ों (शूद्रों-अतिशूद्रों) की अपनी मनुष्यता को नष्ट करने के लिए, उनकी बौद्धिक शक्ति को मलिन करने के लिए, उनके अभियान को सदैव के लिए समाप्त करने हेतु उन्हें फुसलाकर अपने जाल में फंसाए रखने के लिए रची गई हैं।"[42] उन्होंने ईश्वर की अवधारणा से मुक्त होने की अवस्था को ही 'जाति' मुक्ति की अवधारणा के साथ जोड़कर रखा था। चूँकि ईश्वर भक्ति वर्ण-व्यवस्था को किसी-न-किसी रूप में बढ़ावा देती है और इस से वे लोगों को मूर्ख बना कर इसमें जकड़े रखते हैं।

(ग) <u>दलित विमर्श की वैचारिकी और अम्बेडकरवाद</u> : दलित विमर्श में डॉ. अम्बेडकर जी का योगदान अहम रहा है। इनकी सोच सभी में एक समान अधिकार दिलाने की थी। वे स्वयं भी महार (दलित) सम्प्रदाय के थे। जीवन में उन्होंने बहुत सी मुश्किलों का सामना किया है। निरंतर

प्रयास करने के बावजूद भी जब अपने ही लोग चीजों को न समझ कर उनके विरुद्ध हो जाए तो ज्यादा पीड़ा होती है। सवर्णों से तो उन्हें अत्याचार सहना ही पड़ा। साथ ही मुसलमानों से भी। क्योंकि वे दलित थे इस कारण स्वयं अल्पसंख्यक होते हुए भी उनके मन में हिन्दू दलितों के प्रति घृणा का भाव विद्यमान था। वे अपने ऐसे ही एक अनुभव के बारे में बताते हैं- "एक सफेद दाढ़ी वाला मुसलमान बुजुर्ग हमारे पीछे चिल्लाता हुआ आया" इन ढेड़ों ने तालाब को गन्दा कर दिया है।" जल्दी ही आसपास के तमाम जवान-बूढ़े मुसलमान उसके साथ मिल गए और हमें भला-बुरा बकने लगे- ढेड़ लोग उद्दण्ड हो गए हैं। ढेड़ लोग अपनी जात भूल गए हैं। इन को सबक सिखाना होगा।" उनके इरादे भयंकर दिखाई दे रहे थे। हमने उनसे कहा कि- "हम बाहरी लोग हैं और हमें यहाँ कि रिवाज़ की जानकारी नहीं है।" उन लोगों ने अपना क्रोध वहीं के अछूतों पर उतार दिया, जो जब तक किले के द्वार पर आ पहुँचे थे- "तुमने इन बाहर वालों को क्यों नहीं बताया कि अछूत लोग इस तालाब के पानी का उपयोग नहीं कर सकते।" ..... वे उन लोगों को और हमें भला-बुरा कहे जा रहे थे। स्थिति यह हो गई कि वहाँ दंगा और एकाध का खून भी हो सकता था। उस भीड़ में एक मुसलमान नवयुवक बार-बार यही कहे जा रहा था कि प्रत्येक को अपने-अपने मज़हब पर चलना चाहिए। उनका कहने का आशय यह था कि अछूतों को किसी भी स्थिति में किसी सार्वजनिक तालाब से पानी नहीं लेना चाहिए।"[43]

समाज में केवल हिन्दू सवर्ण ही नहीं अपितु मुसलमान लोग भी अछूतों के साथ दुर्व्यवहार और छुआछूत का नियम पालन करते थे। ऐसी परिस्थितियों से लड़कर अंबेडकर दलितों को उनका हक दिलाना चाहते थे। हर राह पर उन्होंने इस जहरीली असमानता विरोधी मानसिकता का विरोध किया - "तो तुम्हारा मज़हब तुम्हें क्या यही सिखाता है? अगर कोई अछूत मुसलमान

हो जाए, तो क्या तब भी तुम उसे इस तालाब से पानी लेने से रोकोगे?" इन सीधे प्रश्न की जैसे उन्हें उम्मीद नहीं थी। इससे उन मुसलमानों पर कुछ प्रभाव होता दिखाई पड़ा। उनसे कोई उत्तर देते नहीं बना और वे चुपचाप खड़े रहे।"[44]

यहाँ अम्बेडकर जी यह समझना चाहते हैं कि लोग सभी एक समान होते है। मुसलमानों में छुआछूत नहीं होती है, किन्तु जब मुसलमान हिन्दुओं के सम्पर्क में आते हैं तो वे भी दलित को अछूत ही समझते हैं। इसी मानसिकता को बदलने हेतु अम्बेडकरवाद का जन्म हुआ और वे एक साधारण अछूत से महानायक बाबा साहब अम्बेडकर बने। उनके भीतर इस अभिशप्त जाति व्यथा को खत्म करने की छटपटाहट थी और इसी छटपटाहट का ही परिणाम था उन्होंने समाज में एक क्रांति की लहर दौड़ा दी। जहाँ सभी दलित इस अभिशाप से मुक्ति पाना चाह रहे थे। डॉ. अम्बेडकर द्वारा 31 मई 1936 को धर्मांतर विषय पर बंबई में दिया गए भाषण की प्रमुख बातों - 'मुक्ति कौन पथे?' 'अछूतो सामर्थ्य-संपन्न बनो', स्वतंत्रता के लिए धर्मांतरण करो, धर्म मनुष्य के लिए है मनुष्य धर्म के लिए नहीं इत्यादि - को कुछ गैर दलित मराठी पत्रकारों ने भी अम्बेडकर के योगदान के रूप में अपनी पत्रकारिता का विषय बनाया था।

उनके इस भाषण से स्वजातीय अनुयायी पैदा करने की अपेक्षा विजातीय विरोधी पत्रकारों को समर्थक बना लेना कोई साधारण बात नहीं थी। उनकी यह बात चिंगारी की तरह हर तरफ फैल गई। धर्मांतर करने की बात इसीलिए की गई थी क्योंकि हिन्दू धर्म में उन्हें किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं मिल पा रही थी। सुविधा तो दूर की बात थी सम्मान मिलना भी जैसे आसमान से तारे तोड़ लाने जैसा था। पत्रकारों को समर्थक बना लेना उनके पत्रकार युग की सफलता थी। प्रतिनिधि तौर पर इस पत्रकारिता की नीति और समर्थन की वजह नवयुग के

संपादकीय में मिलती है। आचार्य अत्रे लिखते हैं- "डॉ. अम्बेडकर की अगाध बुद्धिमत्ता, विशाल विद्वत्ता और प्रचंड कर्तव्यनिष्ठा के प्रति हमारे दिल में पहले से ही आसीम आदर है... तथापि राजकीय पक्ष भेद के मूल में विगत कितने ही वर्षों से उनकी व उनकी पार्टी की हमने आलोचना की है। उनकी विचारधारा पर भी कठोर प्रहार किए हैं। उससे अधिक स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने महात्मा गाँधी और कांग्रेस की राजनीति पर आज तक जो प्रहार किए वे कम क्रूर व कम घातक नहीं थे। पर कांग्रेस की जितनी आलोचना उन्होंने की तब हमारे जैसे कांग्रेस भक्तों का दिल नहीं ठहर पाया। लेकिन जब वे हिन्दुओं से परेशान होकर धर्मांतरण कर मुस्लिम लीग में जाने की भाषा बोलने लगे तब उनका तर्क था कि, 'जब कांग्रेस भक्त नौ करोड़ मुसलमानों को खुश करने में जितनी जान लगाते हैं उतनी छह करोड़ अछूतों का समाधान करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते?' यह विचार कुछ उदार प्रगतिशील कांग्रेसियों के मुँह से भी व्यक्त होने लगे। जब 17 दिसंबर को संविधान समिति की सभा में डॉ. अम्बेडकर ने 'अखंड भारत और जातीय एकता' की प्रचंड सिंह गर्जना की तब कांग्रेस में उनके सभी विरोधी अक्षरशः धराशायी हो गए और पत्थर उठाने वाले हिन्दू समाज के लाखों हाथ उन पर पुष्प वृष्टि करने के लिए सादर खड़े हो गए। 'संसार की कोई भी सत्ता इस देश की एकता के आड़े नहीं आ सकती। हमारा कल्याण अखंड हिन्दुस्तान में है मुसलमान होने में नहीं।' यह सुनकर हमें अत्यंत खुशी हुई और अब मैं आज से आगे उनके विरुद्ध अपने हाथ से एक भी अक्षर नहीं लिखूँगा।"[45]

यह अम्बेडकर युग का जीवंत प्रमाण है जिसमें कट्टर विरोधी भी प्रबल समर्थक बने- "महाराष्ट्र से बाहर तमिलनाडु में पेरियार ई. व्ही रामास्वामी ने अम्बेडकर के विचारों का पुरजोर

समर्थन किया। 1946 में उन्होंने द्रविडीयन व दैनिक विदू थलई पत्रों में दलित प्रश्नों को उठाया।"[46]

अम्बेडकर जी गाँधी के साथ कांग्रेस पार्टी में कार्य करते थे। किन्तु दोनों के विचारों में बहुत अंतर था इसी कारण मतभेद चलते रहते थे। यही कारण था कि गाँधीवाद की राह के बरक्स नवीन अंबेडकरवाद ने जन्म लिया। गाँधीजी जहाँ दलितों को सहानुभूति की नज़रों से देख रहे थे तो अंबेडकरजी इन्हें अनुभूति के धरातल पर उतरकर देख रहे थे। हालांकि अंबेडकर की चिंता और सामाजिक सरोकार को गाँधीजी समझने लगे थे इसीलिए वे कहते हैं - "डॉ. अम्बेडकर के मन में बहुत कटुता है। ऐसा अनुभव करने के लिए उनके पास समुचित कारण हैं। उन्होंने उदार शिक्षा प्राप्त की है। उनके पास औसत भारतीय से अधिक शिक्षा, प्रतिभा और बुद्धि है। भारत से बाहर उन्हें बहुत आदर-सम्मान मिलता है परन्तु भारत में हिन्दुओं द्वारा पग-पग पर उन्हें हिन्दू समाज से बहिष्कृत होने का अहसास कराया जाता है।"[47]

Dr. Ambedkar is bitter. He has every reason to feel so. He has received a liberal education. He has more than the talent of the average educated Indian outside India he is received with honour and affection but in India, among Hindus at every step is remnded that he is one of the out castes of Hindu society.

गाँधीजी जहाँ रामराज्य बनाने की कल्पना कर रहे थे। वहीं अंबेडकर उसे वर्णव्यवस्था का पालनकर्ता बताकर शंबूक हत्या जैसे उदाहरण से घृणा का पात्र साबित करते हैं। अम्बेडकर जी

मानते हैं कि रामायण में जिन्हें दैत्य, बंदर इत्यादि से संबोधित किया गया था। दरअसल वे दलित समुदाय के लोग थे। जिनकी ऋषि मुनियों ने राम के द्वारा हत्या कराई थी।

"गाँधी ने कभी दलित वर्गों के दुख और पीड़ा को समझने की कोशिश नहीं की थी। वे वही चीज़ करते थे। जो समूचा भारत वर्ष चाहता था। वे हरिजनों के मंदिर प्रवेश को संभव मानते थे। अंबेडकर समतामूलक समाज-व्यवस्था बनाना चाहते थे। जहाँ हर किसी के साथ एक ही सा व्यवहार किया जाये। गाँधीजी समाज में अशांति और अहिंसा पैदा नहीं करना चाहते थे। इसी के चलते जो जैसे रहा है वही चलता रहे इसे मानते थे। उन्होंने कालांतर में मंदिर प्रवेश इस शर्ते पर रखा कि हरिजन मंदिर प्रवेश कर सकते है, यदि एक भी हिन्दू विरोध न करे। उनकी इस तरह की बातों से सवर्णों को अपनी मनमानी करने का भरपूर अवसर मिलता था। जाति व्यवस्था को लेकर उनके मन में कोई अच्छे विचार नहीं थे- वर्णाश्रम कोई सीधी खड़ी रेखा नहीं है, बल्कि वह तो समतल भूमि है, जहाँ ईश्वर के सभी बच्चों के लिए एक-सी स्थिति है। फिर चाहे वे जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हो और चाहे उनके गुण और रुचियाँ भिन्न-भिन्न हों।"[48]

जाहिर है गाँधी जी चारों वर्णों की स्थिति समान दर्जे की मानते थे। दलितों को हरिजन कहकर एक नया दृष्टिकोण पेश किया गया। जिससे अंबेडकर जी सहमत नहीं थे। उन्होंने मूकनायक प्रवेशांक में ही- "हिन्दू समाज को बहुमंजिली मीनार भी बताया जिसमें जो जिस तल (जाति) में होता वह उसी तल में मरता।"[49]

इस जाति और वर्णगत असमानता को डॉ. अंबेडकर ने अपने विवादित क्रांतिकारी भाषण, (Annihilation of caste) में रेखांकित किया- "जाति-प्रथा केवल श्रमिकों

का विभाजन ही नहीं है जो श्रम-विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। वह वंशगत है जिसमें श्रमिकों का वर्गीकरण एक के ऊपर दूसरी सीढ़ीनुमा है।"[50]

अंबेडकर जी जाति और वर्ण-व्यवस्था से घृणा करते थे। वे मानते थे कि यह ऐसा अभिशाप है जिसमें एक बार फंस जाने पर उससे निकला नहीं जा सकता। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी नरक में जलते हुए मर जाते हैं।

हालांकि उन्हें ऐसे सामाजिक परिवर्तन और क्रांति के कारण बहुत सी निन्दाओं का भी सामना करना पड़ा। उन्हें यहाँ तक सुनना पड़ा कि वे अंग्रेजों के नौकर, उनके एजेंट हैं। यह भी कि ऐसे फूट डालकर अंग्रेज भारत में अपना शासन मजबूत करना चाहते हैं और अंबेडकर जैसे लोग उनकी मदद कर रहे हैं। राय बहादुर मेहरचंद खन्ना ने गाँधी समर्थन और अंबेडकर विरोध का प्रचार किया था। उनका यह बयान एक जर्नल में छपा था। खन्ना ने दलितों से कहा, "आप में से कुछ लोग डॉ.अंबेडकर के अनुयायी रहे हैं जिसे ब्रिटिश सरकार ने ऐसा पिठू बनाकर खड़ा किया है जिसका इस्तेमाल ब्रिटिश साम्राज्य के हाथों की मजबूती के लिए इसलिए किया जाता है कि अंग्रेज भारत में फूट डालकर शासन करते रहें।"[51]

*Some of you, I know have been running after Dr. Ambedkar, who is just a creation of the British imperialists and who uses you to strengthe the hands of the British Government in order that India may be divided and the Britishers continue to retain power.

गाँधीजी हरिजन शब्द का इस्तेमाल कर रहे थे। इससे समाज व्यवस्था तो बदलने वाली नहीं थी। बल्कि उनकी यह नीति दलितों को और सताने और मुक्तिहीन रखने वाली व्यवस्था को

अधिक मजबूत कर रही थी। इस बात को अंबेडकर जी कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। उन्होंने प्रश्नचिन्ह उठाते हुए जात-पात तोड़ने की बात कही है। जात-पांत तोड़क मंडल के भाषण (जातिभेद का उच्छेद) मे डॉ. अंबेडकर ने कहा था- "मैंने हिंदू मान्यताओं पर प्रश्नचिन्ह लगाए हैं, मैंने उस महात्मा के सिद्धांतों को भी चुनौती दी है जिसके प्रति उन्हें विशेष श्रद्धा है। वह मुझसे घृणा करते हैं, मैं उनके बगीचे में उनकी दृष्टि में एक सर्प हूँ।"[52]

I have critised the hinders. I have questioned the authoity of the Mahatma whom they revere. They hate me. To them I am a shake in their garden.

गांधीजी जैसे महान व्यक्ति जिसे महात्मा की उपाधि दी गई है। ऐसे महात्मा से भी वह दो टूक बात करने से पीछे नहीं हटते हैं। जहाँ समाज में इतनी तकलीफों के साथ दलित वर्ग जी रहे हैं। ऐसे कार्य को गांधी द्वारा सही कहना अंबेडकर के लिए असहनीय था। वे दलितों के मसीहा थे। उन्होंने उन्हें सुधारने और उचित स्थान प्राप्त करवाने के लिए हर संभव कोशिश की। सम्मान की जिंदगी जीने का हर किसी को अधिकार है और उनसे यह अधिकार छीनने का हक किसी को नहीं है। उन्होंने पैत्रिक व्यवसाय संबंधी गांधी के मत का प्रमाणिक खंडन किया है- "महात्मा जन्म से बनिया है। उनके पूर्वज वाणिज्य त्यागकर रजवाड़े के दीवान बन गए। जो ब्राह्मण का पैशा है। महात्मा ने पैशा चयन के वक्त बैरिस्ट्री को उचित समझा फिर कानून का पैशा त्यागकर आधे संत और आधे राजनीतिज्ञ हो गए। उन्होंने पूर्वजों का पैशा छुआ तक नहीं। उनके बेटे ने एक अखबार मालिक के यहां नौकरी कर रखी है और ब्राह्मण लड़की से शादी की है। वे अपने आदर्शों को सिद्ध करने में सफल नहीं।"[53]

वे आगे लिखते हैं- "कुटने के बेटे को कुटना ही बनना चाहिए क्योंकि उसका दादा कुटना था उसकी स्त्री को वैश्या बनना चाहिए क्योंकि उसकी दादी वैश्या थी। यह मत नैतिक दृष्टि से भी मानने योग्य नहीं है।"[54]

जहाँ कांग्रेस नेता भारत को राम राज्य बनाने की बात पर अमल करते हुए कहते हैं की रामराज्य से सभी का कल्याण होगा। ऐसे में सभी के साथ न्याय होगा। ऐसे देश के सभी नागरिक सुख से रहेंगे। राम राज्य की स्थापना से सभी का भला होगा। इस बात को अंबेडकर जी नकारते हैं उनका मानना है कि रामराज्य में भी दलितों के साथ अन्याय ही होगा। उस राज्य में भी सवर्ण और उच्च कुल वाले ही संपन्नता के साथ जीवन जियेंगे दलित वहाँ भी अपमानित और शोषण का शिकार होता रहेगा। इस बात को सार्थक करते हुए वे शंबूक प्रकरण को उदाहरण के तहत लेते हैं। डॉ. अंबेडकर रामराज्य को लोकतंत्र का पर्याय या बेहतर व्यवस्था नहीं मानते- "कुछ लोग राम पर आक्षेप लगाते हैं की उसने अकारण ही शंबूक की हत्या की। यह पूरी स्थिति को भ्रामक बनाता है। रामराज्य चातुर्वर्णय पर आधारित था। राजा के रूप में व्यवस्था का पालन करना उसका कर्तव्य था जो उसने शूद्र शंबूक की हत्या करके किया क्योंकि शंबूक ब्राह्मण बनना चाहता था।"[55]

अंबेडकर की नीति थी वे अछूतों के शैक्षिक, आर्थिक उत्थान के प्रश्नों को आगे लाना चाहते थे। अब उनके लिए अस्पृश्यता, मंदिर प्रवेश का प्रश्न उतना जरूरी नहीं था जितना कि दलितों को शिक्षित कर आर्थिक रूप से उन्हें संगठित, मजबूत बनाना।

डॉ. अंबेडकर के अनुसार- "मंदिर प्रवेश आध्यात्मिक मनोवृति नहीं राजनीतिक कूटनीतिक चाल है।" वे मानते थे कि धर्म के चक्कर में फंसाकर दलितों को मुख्य लक्ष्य से हटा रहे हैं। उनका मुख्य लक्ष्य कभी सिर्फ मंदिर प्रवेश नहीं हो सकता है । उनकी सोच आधुनिक थी -

अंबेडकर आधुनिक रूप में अंतर्जातीय एवं अंतरधर्मीय विवाह व सहभोजन द्वारा जातिभेद व छुआछूत समाप्त करना चाहते थे। जबकि गांधी जी ने कहा की वेद और महाभारत दोनों अंतर्जातीय व अंतरधर्मीय विवाहों से भरे पड़े हैं। परंतु यह स्वेच्छा का मामला है धार्मिक नियम नहीं।"[56]

The Vedas in the Mahabharata are filled with illustrations both of inter-dining and inter- marriage. But these are matters of choice not a matter of religions regulation.

वह मानते थे कि गांधीजी के हरिजन सेवक संघ का उद्देश्य अछूतों में अपने हिंदू मालिकों की दास -मानसिकता व परावलंबन का भाव कायम रखना था। वे इसके जरिए अछूतों के मन में भक्ति का भाव उत्पन्न करना चाहते हैं और जिससे अछूत वर्ग जीवन भर मुक्त ना हो सके। गांधी जी की 'हरिजन सेवा' पर संदेह करते हुए अंबेडकर ने निम्न 13 प्रश्न उठाए-

१. 1921 में गांधीजी ने तिलक स्वराज्य फंड के लिए 1 लाख 45 हजार रुपया एकत्र किए। तब अछूतों के उत्थान के लिए 43,000 रुपए मात्र धन की राशि पर आपत्ति क्यों नहीं की?

२.1922 के बारदोली प्रोग्राम में से अछूतोत्थान का आइटम काट दिया गया। कमेटी ने खर्चा करने के लिए केवल 500 दिए । गांधी ने इसके विरुद्ध कोई आवाज क्यों नहीं उठाई?

३. स्वराज्य पाने के लिए अस्पृश्यों सहित, हिंदू- मुस्लिम एकता जरूरी है ऐसा कहा था, परंतु कांग्रेस की सदस्यता का आधार अस्पृश्यता न मानना क्यों नहीं रखा गया?

४. गांधीजी ने दर्जनों अनशन किए उनमें अस्पृश्यता के विरुद्ध एक भी अनशन क्यों नहीं किया?

५. हिंदुओं के विरुद्ध एक भी सत्याग्रह और अनशन क्यों नहीं किया?

६. 1929 में अछूतों ने कुआं, मंदिरों, तालाबों के पानी के लिए सत्याग्रह किए तो गांधी ने उनकी निंदा क्यों की?

७.जमूरिया (zamoria) द्वारा 'गुरुवयूर मंदिर' अछूतों के लिए नहीं खोला गया तो 'अनशन करेंगे' ऐसा कहने के बाद भी मंदिर नहीं खुला तो अनशन क्यों नहीं की?

८.1932 में 'ब्रिटिश सरकार' की धमकी- रंगा अइयर के मंदिर प्रवेश बिल के समय अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश या चुनावों मे कांग्रेस की विजय इन दोनों में कौन अधिक महत्वपूर्ण था?

९. गांधी जी ने हरिजनों पर अत्याचार करने वाले तथा उनका आर्थिक, सामाजिक बहिष्कार कर डालने के दोषी नागरिक अधिकारों का उपयोग करने वाले हिंदुओं के विरुद्ध अभियान चलाना 'हरिजन सेवक संघ' का उद्देश्य क्यों घोषित नहीं किया?

१०. गांधी जी ने' हरिजन सेवक संघ' के प्रबंधन से अछूतों को अलग क्यों किया?

११. अछूत उत्थान में सहायक कम्युनल अवार्ड का पूरी शक्ति से विरोध करते हुए आमरण अनशन क्यों किया?

१२. कांग्रेस से यह कहकर अछूतों को विश्वास में क्यों नहीं लिया कि हिंदुओं के कठपुतली अछूतों को चुनाव लड़ने के लिए तैयार न करें और अछूतों को स्वयं अपने हितचिंतक उम्मीदवारों को खड़ा होने दें?

१३. गांधी जी पूना पैक्ट कि स्वीकृति के बाद सभ्य और ईमानदार मनुष्य की तरह समझौते पर कायम क्यों नहीं रहे और कांग्रेस मंत्रिमंडल में अछूतों के प्रतिनिधियों को शामिल करने के लिए कांग्रेस हाई कमांड को निर्देशित क्यों नहीं किया?"[57]

यूं तो दलित जातिवाद, अस्पृश्यता, छुआछूत से स्वतंत्रता के लिए तड़प रहे हैं। किंतु उनके बीच भी बहुत सी समस्याएं हैं। दलित भी अति दलितों का शोषण करते हैं और वे कल्पना में भी उनके समान होने की चेष्टा नहीं करते हैं। ऐसा नहीं है कि सिर्फ दलित वर्ग ही अंबेडकर का समर्थन करते हैं। कुछ गैर दलित भी इसके पक्षधर हैं। परंतु वे इसे सैद्धांतिक तौर पर लेते हैं। साथ ही दलित वर्ग उनकी आलोचना करने लगते हैं यह कहकर कि गैर दलित दलितों की पीड़ा नहीं समझते हैं। अंबेडकरवाद में भी ऐसी समस्या थी। किंतु लोग इसे खुलकर कहने से डरते थे। क्योंकि कोई भी उनके खिलाफ कुछ कहने लगते तो वे लड़ाई-झगड़े पर उतर आते हैं। पत्रकार अभय कुमार दुबे ने 'अंबेडकरवाद की समस्याएं' शीर्षक से हंस के एक समीक्षात्मक लेख में कई विचारोत्तेजक प्रश्न उठाए हैं। जैसे-

१. अंबेडकर के सामने हिंदू धर्म पर मरणंतक प्रहार करने का मौका था तो उसे बख्श क्यों दिया?

२. धर्मांतरण पहले और 'रिपब्लिकन पार्टी' बाद में बनाई। इज्जत की लड़ाई और अंग्रेजों से राज सत्ता छीनने की लड़ाई साथ-साथ चलाई जा सकती थी। पर अंबेडकर ने आज़ादी के लोकप्रिय औजार को ब्राह्मणवादी ताकत के हाथों में क्यों चले जाने दिया? गांधी जी की 'हरिजन' जैसी अरुचिकर धारणा क्यों विकसित करने दी गई?

३.जो कांग्रेस उनकी निगाहों में क्रांतिकारी पार्टी नहीं थी और जिस में शामिल होने से इनकार कर दिया था उसकी सरकार में वे कैसे शामिल हो गए? जमींदार समर्थक कांग्रेस व पटेल उन्हें कैसे स्वीकार हो गए?

४. जीवन भर अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष चलाने के बाद अस्पृश्यता खत्म करने का श्रेय उन्हें क्यों नहीं मिला अखबार वालों ने उनके नाम का जिक्र तक नहीं किया?

५. पिछड़ों और दलितों को आरक्षण का उपहार देने वाले अंबेडकर को पिछड़ा वर्ग अपना नेता नहीं मानता? पिछड़े वर्गों के घर से भी कोई अंबेडकरवादी क्यों नहीं है?

६. अनुसूचित जाति का नवसंपन्न तबका बाकि के साथ सवर्ण से भी गया-गुजरा सलूक क्यों करता है?

७. नव बुद्ध अनुसूचित जाति होने और आरक्षण पाने के दायरे से क्यों नहीं निकल पाए?

८. अंबेडकर अनुयायियों की सिद्धांतहीनता व दुर्दशा का दलितों को दर्शन कौन कराएगा?

९. क्या अंबेडकर ही दलितों के पहले और अंतिम सिद्धांतवेत्ता रहेंगे?

१०. क्या दलितों में कोई ऐसी शक्ति पैदा नहीं होगी जो खुद को ईश्वर या हजरत मूसा न समझे बल्कि एक आधुनिक राजनीतिक नेता के रूप में आधुनिक राजनीति की जरूरतों के मुताबिक उनका नेतृत्व करे।"[58]

अगर हम अंबेडकरवाद की समस्याओं को देखें तो गौरतलब है कि धर्म संस्कृति ऐसी वस्तु नहीं है जिन्हें 1 दिन में क्रांति करके समाप्त कर दिया जाए। युगों से चली आ रही प्रथा एक ही बार में नहीं बदल दी जा सकती है। साथ ही उन्होंने धर्मांतरण पर ज्यादा बल दिया इसका कारण यह है कि हिंदू धर्म में दलितों को हमेशा पीड़ा ही पहुंचाई गई है। उन्होंने बौद्ध दर्शन को ही सर्वोपरि माना है। दलितों पर अंग्रेज और सवर्ण दोनों ही शोषण कर रहे थे। भारत पर अंग्रेजों का राज था। ऐसे में भारत स्वयं भी गुलाम था और अपने ही देशवासी अपनों का ही शोषण कर रहे थे। इन हालातों में अंबेडकर ने दोनों के साथ संघर्ष करके ही दलितों को कुछ अधिकार दिलाए। गांधीजी के हरिजन सिद्धांत का उन्होंने कभी भी समर्थन नहीं किया शुरू से अंत तक उनके लिए यह अनैतिक कार्य था।

जिस प्रकार भारत में जाति समस्या सदियों से चली आ रही समस्या है। जिसका परिणाम छुआछूत की समस्या के रूप में सामने आया है। उसी प्रकार औद्योगिक क्रांति के बाद वर्ग पैदा हो रहे हैं। यह भी एक बड़ी समस्या है। उनका कहना था कि पहले जाति समस्या समाप्त करनी होगी तभी वर्ग व्यवस्था या समस्या समाप्त हो पाएगी। यह दोनों ही समस्याएं एक सिक्के के दो पहलू हैं । एक को अगर नकार दिया जाए तो दूसरी और अधिक बलशाली हो जाएगी। इसलिए वे जाति की समस्याओं को प्राथमिकता दे रहे थे। और यह स्वाभाविक था। डॉ. अंबेडकर ने कहा था कि "स्पृश्य मजदूरों का शोषण मालकशाही (मांडवलदार) के कारण और अस्पृश्य मजदूरों का शोषण मालकशाही और अछूतपन इन दोनो के कारण हो रहा है।"[59]

इस प्रकार दलित समाज दोहरे अभिशाप का शिकार हो रहे थे। एक तो उन्हें जाति के नाम पर समाज द्वारा अछूत माना जा रहा था, उसी प्रकार श्रमिक वर्ग में भी वे अछूत ही थे। ऐसा कर समाज से जाति प्रथा को कभी ना खत्म करने की चाल थी। इसलिए अंबेडकर जी कहते हैं पहले जाति व्यवस्था को जड़ से मिटाना होगा तभी श्रमिक वर्ग को भी उनका हक मिल पाएगा। इस दृष्टि से उन्होंने स्वतंत्र मज़दूर पक्ष में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

वे कांग्रेस के कट्टर आलोचक थे। उनका यह विरोध श्रमजीवी वर्ग के सिद्धांत के हक में थे । उनका मानना था कि कांग्रेस गरीबों का हक नहीं दिलवा सकते हैं। उनका कहना था कि कांग्रेस केवल गरीबों के ही नहीं है। उसमें धनवान व्यापारी, कारखानेदार, जमींदार, साहूकार आदि वर्ग के लोग हैं और धनवान तथा गरीब वर्ग के हित संबंध समान नहीं है। बल्कि उनके वर्गीय हित संबंध परस्पर विरोधी हैं।"[60] वे आगे कहते हैं- कांग्रेस खिचड़ी पार्टी है और इसलिए कांग्रेस के

द्वारा गरीबों का कोई हित होने वाला नहीं है। कांग्रेस पर जिन मांडवलदारों का वर्चस्व है वे अपना हित देखे बगैर गैर गरीब कामगार और किसान वर्ग के हित कभी चाहने वाले नहीं हैं।"[61]

अम्बेडकर जी यह समझते थे जिस पार्टी में अमीर लोगों की संख्या अधिक हो। ऐसी पार्टी पहले अपना काम देखेगी फिर, गरीबों के बारे में सोचेगी। जो पूंजीवादी वर्ग वहाँ काम कर रहे हैं, अगर वे गरीबों के हित करने के बारे में सोचने लगेंगे तो उनका धंधा चौपट हो जाएगा। गरीबों का हित करने के लिए कोई ऐसा नेता या पार्टी चाहिए जो दर्द से स्वयं गुजरा हो या गुजर रहा हो। जो इस व्यथा को भोगा ही नहीं वह उनका हित कभी नहीं करेंगे।

"डॉ. अम्बेडकर कांग्रेस को विश्वामित्र की माया कहते थे। मतलब जिसमें नेवला और सांप की दोस्ती है चूहा बिल्ली का दूध पीता है आदि।"[62]

जहाँ सारे दुश्मन एक साथ मिल कर रह रहे वहाँ वे किसी गरीब औरे कमजोर आदमी को तो ऐसे ही मार डालेंगे। सांप और नेवले के खेल में मेंढक मारे जाएंगे। यह माया एवं भ्रम पैदा करने वाली पार्टी है। यहाँ बुनियादी हक़ीकत बस कहने भर के लिए ही है। सब कुछ मृतप्राय है।

वे कहते थे कि- "गरीबों का रखवाला कोई नहीं है गरीबों के रखवाले गरीब ही हैं। और यदि गरीबों को अपनी स्थिति सुधारनी हो तो उन्हें जहाँ कानून बनाया जाता है उस राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना चाहिए।"[63]

उन्होंने स्वतंत्र मज़दूर पक्ष के द्वारा खोती पद्धति विरोध बिल बाम्बे विधि मंडल में रखा था। वे कहते थे कि- "इस बिल का स्वीकृत होना मेरे प्रयत्नों के अलावा आप लोगों की एकता पर ज्यादा निर्भर है। आपकी एकता जितनी मजबूत रहेगी उतनी ही स्वतंत्र मजदूर पक्ष की शक्ति बढ़ेगी और आपके हित में कई कानून पास किए जा सकते हैं। तुम्हारे सामाजिक भेदभाव का

लाभ उठाकर तुम्हारे शत्रु तुम्हारी एकता नहीं बनने देंगे। इसलिए कुणबी, मराठा, महार, चमार सभी किसान एक, यही भावना रखनी चाहिए।"[64]

यहां खोती पद्धति का विरोध और खतवारी पद्धति का समर्थन किया है। यहाँ अंबेडकर ने यह समझाने की कोशिश की है कि निजी जाति विवाद से ऊपर उठकर आर्थिक शोषण के खिलाफ संगठित होकर प्रयत्न किए जाने चाहिए। किसान क्रांति का यही मुख्य लक्ष्य था। सभी किसान और श्रमिक बंधुओं को एक सूत्र में बांधकर श्रमिक अत्याचार के विरोध आवाज़ उठाएं। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। जब सब मिलकर संघर्ष करेंगे तभी अधिकारों की प्राप्ति होगी।

डॉ. अंबेडकर कहते हैं कि, "श्रमजीवी लोगों का संगठन बनाना हो तो उसमें जाति भेद, धर्म भेद को कोई स्थान न हो । यह श्रमजीवी वर्ग पहले से ही बुरी तरह से आर्थिक उत्पीड़न से जकड़ा हुआ है इसलिए इस संगठन में किसी भी प्रकार की विषमता नहीं रहनी चाहिए।"[65]

"इस असेंबली में कांग्रेस द्वारा जिन सदस्यों को चुनकर लाया गया वे अधिकांश साहूकार, जमींदार, खेत और उच्च वर्णीय (श्रीमान) लोग हैं। वे अपने हितों के लिए कांग्रेस का पूरा उपयोग करेंगे। वे ब्याज बढ़ाकर अपना धन बढ़ाते हैं। वे लोग तुम जैसे श्रमजीवी वर्ग की एकता का जोरदार समर्थन करते हैं और कहते हैं कि, दुनिया में केवल दो ही वर्ग हैं - एक अमीरों का और दूसरा गरीबों का। इसके अलावा तीसरा वर्ग है मध्यम वर्ग। दुनिया के किसी भी प्रगति आंदोलन के विनाश के लिए यही वर्ग कारण बन जाता है.... तुम इस भुट्ठीभर मांडवलदारों के द्वारा शोषित हो। और तुम लोगों में इस उत्पीड़ित अवस्था में किसी भी प्रकार के प्रतिकार की शक्ति नहीं रही है । इसलिए श्रमजीवी वर्ग की शक्ति संगठित होना जरूरी है।"[66] इस तरह हम देख सकते हैं कि अंबेडकरवाद का मूल उद्देश्य एकता है। इसके द्वारा ही न्याय पाया जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि "अस्पृश्य का त्रास ही हिन्दुओं का अपराध है। हिन्दुओं की धार्मिक मनोवृत्ति में क्रांति के लिए अस्पृश्यों को कितना इंतजार करना पड़ेगा? इसका उत्तर तो वही दे जो भविष्यवाणी करने की योग्यता रखते हैं।"[67] भारत की स्थिति अस्पृश्यता के कारण बहुत भयानक होती जा रही है अस्पृश्यों को अपना पूर्ण अधिकार पाने के लिए कितना इंतजार करना पड़ेगा यह कहा नहीं जा सकता।

अपने युग में अंबेडकर जी ने कई पत्रों का प्रकाशन भी किया है। जिससे कि दलितों में ज्ञान का प्रकाश फैले और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो कदम उठाएं। यह उनका बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था। उन्होंने ज्यादातर पत्र प्रकाशन बहिष्कृत-तिरस्कृत भारतीय जनता को ही केंद्र में रखकर किया है।

“पत्रकार अंबेडकर और उनके पत्र मुख्यत: बहिष्कृत भारत पर अन्य गैर दलित पत्रों ने जो अपनी प्रतिक्रिया, अभिक्रिया और परामर्श प्रकाशित किए। इनमें कुछ उध्दृत करना प्रासंगिक होगा। तरुण भारत (4.4.1927) का सारतत्व है कि - उच्च शिक्षा संपन्न करके आए व्यक्ति (अंबेडकर)द्वारा संपादित पत्र (ब. भा) विशेष भूषणीय है। पत्र की भाषा सुबोध व सुरुचिपूर्ण और विचार राष्ट्रीय स्वरूप के होने के कारण यह पत्र श्रेष्ठ दर्जा का साबित हुआ है।" प्रजापक्ष (24.4.1927) का मत था कि, “अस्पृश्य वर्ग की ओर से लड़ने के लिए ऐसे एक स्वतंत्र पत्र की आवश्यकता थी। वह रिक्ति बहिष्कृत भारत से भर जाएगी । पत्रकार अंबेडकर की लेखनी तड़पदार और तेजस्वी है। हम अपने इस बंधु (पत्रकार) का स्वागत करते हैं।"

परीक्षक (28.4.1927) ने लिखा- "संपादक (अम्बेडकर) बहुत बड़े विद्वान है। देश के बारे में उनके विचार अत्यंत उपयोगी है उनकी भाषा शैली और विषय-प्रतिपादन वाचकों के मन को

गहराई तक प्रभावित करने वाले हैं। उनका युक्तिवाद सीधा और स्पष्ट है और सभ्यता का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हुआ है।" निजाम विजय (22.04.1927) के अनुसार- हिंदू अस्पृश्य को समाज से दूर रखते हैं। मुसलमानों, ब्राह्मणोत्तर सभी को एक ही चक्की में पीसने का प्रयास करते हैं। इसलिए सरकार से लड़ना पड़ेगा, यह बात संपादक के ध्यान में पूरी तरह से है ऐसा लगता हैं।"

कुछ लोगों ने अंबेडकरवाद की प्रशंसा की तो कुछ ने इसके विपरीत स्वर में भी बातें की। समाज में नकारात्मक विचार रखने वालों की कोई कमी नहीं है। यह हम कुछ पत्रकारिता के माध्यम से भी देख सकते हैं। गोग्रास (08.05.1927) पत्र में सुनाई पड़ता है, "डॉ. अंबेडकर ने परकीय समाज को उसके दोष दिखाकर हजारों वर्ष पुराना स्मृतियों द्वारा धर्म के जो नियम स्थापित किए गए हैं उनको 'शैतान' वगैरह के विशेषण लगाए हैं और 'रूढ़ियों को सुरंग लगाकर (बारूदी गोलों से) उड़ा देंगे।' उनका यह कहना ठीक नहीं है। जो बातें आचार-व्यवहार, पढ़ाई-लिखाई से कालांतर में अपने आप दूर होगी उनमें दुराग्रह और उतावलेपन से हिंदुओं में और अधिक फूट पड़ेगी।" इस पर समान मौज (18.05.1927) कहता है कि- "रूढ़ियाँ खत्म करने से हमें आपत्ति नहीं। परंतु 2 हजार वर्ष पूर्व के भगवान 'मनु' पर टीका करना मूर्खपन है।"

उनके विचारों की खुलकर आलोचना की गई है। उनके द्वारा प्रकाशित जो पत्रकारिता है उसमें उन्होंने समाज को बदलने की बात कही है। इसके माध्यम से दलितों में जागरूकता एवं एकता का प्रसार करने की कोशिश की गई थी। किंतु आलोचकों को यह नागवार गुजरा। उन्होंने अंबेडकर को नायक से खलनायक बनाने की भरपूर कोशिश की है। स.मु .पठान ने कहा- "उनके पत्रों के परिशील से ये आरोप निराधार व पूर्वाग्रह-युक्त लगते हैं। उनकी पत्रकारिता परलोक का

मार्ग या सुधार का साधन नहीं, ऐहिक लोकोन्नति, दलितोपकार, दलितहित, दलितकल्याण उनके पड़ाव है। वह मूकनायक है किंतु सामाजिक यथास्थिति के मूखदर्शक नहीं।"[68]

पत्रकार के प्रति जनस्मृति भाव के बावत 25 मार्च, 1916 को राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता और बंबई क्रांनिकल के संपादक फिरोजशाह मेहता की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में उनकी प्रतिमा स्थापन के संबंध में उन्होंने लिखा - "भारत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर बदतर स्थिति में खड़ा है। जिसे आज की सर्वोपरि आवश्यकता ईमानदार नेताओं की है। ऐसे नेता सर्वश्री गोखले और पी. एस मेहता थे। इन दोनों ने हमारी पीड़ाओं का प्रतिनिधित्व किया। प्रतिमा के रूप में दिया गया सम्मान उनके योगदान की तुलना में तुच्छ, अनुपयुक्त और नगण्य है। सर मेहता का स्मारक जन पुस्तकालय (public library) के रूप में स्थापित किया जाए। एक वैचारिक पत्रकार की यही सच्ची स्मृति होगी।"[69]

अंबेडकर जी मानते थे कि मूर्ति की स्थापना गलत है। मूर्तिपूजा के समय के बाद अंधविश्वास का रूप ले लेती है। जैसे कि हिंदुओं में होता हैं। मूर्ति पूजा की ओर अग्रसर होते लोग धीरे-धीरे अंधविश्वास के चक्रव्यूह में फंसते जा रहे हैं। इसके स्थान पर पुस्तकालय बनाया जाएगा तो वह शिक्षा, अध्ययन आदि कार्य में कारगर साबित हो पाएगा। उनके विचार बहुत ही उच्च और उत्कृष्ट थे, परंतु लोगों की समझ वहां तक पहुँच नहीं पाई। जिसका परिणाम हुआ उनके विरूद्ध गंभीर आरोप। उनका जीवनकाल आरोप-प्रत्यारोप के शिकंजे से हमेशा ही जकड़ा रहा।

उस समय का समाज इतना बर्बर और अन्यायी हो गया था कि दलित वर्गों के लिए हिंदू धर्म में रहना असहनीय और पीड़ादायक था। जहां धर्म के नाम पर लोगों के साथ अत्याचार किया जा रहा था। भारत की प्रमुख इतिहासकार रोमिला थापर का मानना है कि- "भारत में जन्मे किसी

भी अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति ने विश्व धरातल पर इतना अधिक ध्यान आकर्षित नहीं किया है जितना बुद्ध ने किया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बुद्ध ने अपने समय के तेजी से बदलते समाज का विश्लेषण करने तथा मनुष्य - जाति के लिए एक स्थायी समाज दर्शन प्रदान करने का अत्यंत गहन और व्यापक प्रयास किया था । बौद्ध धर्म ने एक व्यक्ति वैकल्पिक समाज का भी ख़ाका खड़ा कर दिया उसने उस समय अपनी जड़ जमाती श्रेणीबद्ध असमानतावादी विचारधारा और व्यवहारों से भिन्न सिद्धांतों पर आधारित समाज को संगठित करने की संभावना खड़ी कर दी थी।"[70]

गौतम बुद्ध ने अपने से कोई बौद्ध धर्म की स्थापना नहीं की थी। उन्हें हिंदू धर्म में ब्राह्मणों का अन्याय और वर्चस्व स्थापित होता दिखाई दिया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने हिंदू धर्म को त्याग कर अपनी ही अलग राह पकड़ ली। जहां न कोई अन्याय होगा और न ही कोई असमानता। जहां व्यक्तियों में परस्पर प्रेम, सद्भाव और समानता है, जाति और धर्म के नाम पर घृणा व नफरत नहीं। उनके इसी विचार से प्रभावित होकर लोग उनका अनुसरण करने लगे। यह वे लोग थे जिन्हें हम अभी शूद्र दलित के नाम से जानते हैं। जिससे प्रभावित होकर निर्गुण धर्म की स्थापना हुई और कबीर, दादू, रैदास आदि संत केंद्र में आये।

अंबेडकर मानते थे कि जो धर्म हमेशा रूढ़ियों में जकड़ा हो। जो मनुष्य और मनुष्य में अंतर रखे। ऐसे धर्म को त्याग देना चाहिए। उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाने का एक नया और क्रांतिकारी कदम उठाया। यह भारतीय सामाजिक ढांचे की टूटन की दिशा में बढ़ा पहला संगठनिक कदम था। गौतम बुद्ध के बारे में बताते हुए बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर का कहना है कि- "प्रथम समाज -सुधारक और उनमें सबसे महानतम गौतम बुद्ध थे। समाज-सुधार

का इतिहास ही बुद्ध से शुरू होता है और कोई भी इतिहास उनकी उपलब्धियां बताएं बिना अधूरा रहेगा।"[71]

जब भी समाज में कोई खलनायक पैदा होता है तो उसे खत्म करने के लिए एक नायक जरूर जन्म लेता है और गौतम बुद्ध उसी नायक के रूप में जन्मे। चंद्रगुप्त नाटक में जयशंकर प्रसाद ने बौद्ध धर्म के बारे में चाणक्य के मुख से कहलवाया है कि- 'वैश्याओं और शूद्रों के लिए एक धर्म की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति बौद्ध धर्म के रूप में हुई। यह बात प्रमाणित है कि बौद्ध धर्म उपेक्षितों के लिए ही था।'

मनुष्य अलौकिक सत्ता को बहुत अधिक मानता है और यह विश्वास रखता है कि जब भी हम कष्ट और मुश्किलों में होंगे तो ईश्वर हमें बचाने या हमारी रक्षा करने आएंगे। जब धर्म और ईश्वर से दलितों को वंचित किया गया था तो ऐसे में नये धर्म का उद्दीपन होना लाजमी था। डॉ. अंबेडकर कहते हैं कि- "बुद्ध ने जब अपना अभियान शुरू किया और शिक्षा से जो महान सुधार आया इसको समझने से पहले तत्कालीन आर्य सभ्यता की विकृत स्थिति को जानना आवश्यक है। तत्कालीन आर्य समुदाय सबसे घृणित सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक व्यभिचार मैं फंसा हुआ था। कुछ सामाजिक बुराइयों के उदाहरण हैं - जुआ खेलना, शराब पीना आदि। प्रत्येक राजा के यहां जुआ खेलने के लिए महल के साथ ही एक मंडक हुआ करता था। हर एक राजा जुए के विशेषज्ञ को नौकरी पर रखता है। जो खेल के समय राजा का सहायक हुआ करता था।"[72]

डॉ. अंबेडकर आगे बताते हैं कि- "अब आर्यों के समाज की बात करें जो कि वर्ग-संघर्ष और वर्ग विषमता का शिकार था। आर्यों का समाज चार वर्गों में विभाजित था। ये विभाजन ऊंच-नीच का था, एक वर्ग से दूसरे की श्रेष्ठता का था। एक-दूसरे के ऊपर या नीचे होने के कारण चारों वर्णों

में ईर्ष्या और विद्वेष था। इस ईर्ष्या और विद्वेष से शत्रुता पैदा हुई। यह शत्रुता दो सर्वोच्च वर्गों, अर्थात ब्राह्मण और क्षत्रिय में अधिक थी। इन दोनों में सत्ता का वर्ग-संघर्ष चलता रहता था। दुर्भाग्य से ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच के वर्ग-संघर्ष का विस्तृत विवरण इतिहास में नहीं मिलता। केवल कुछ उदाहरण लिखे गए हैं। वेन, पुरूरवा, नहुष, सुदाम, सुमुख और निमि ऐसे क्षत्रिय राजा थे जिनका ब्राह्मणों से संघर्ष हुआ था। इन संघर्षों के मुद्दे अलग-अलग थे।

वेन और ब्राह्मण के बीच मुद्दा यह था कि क्या राजा का प्रभुत्व रहेगा और ब्राह्मण उसकी पूजा करेगा और भगवान को बलि चढ़ाने की बजाए वह राजा को बलि चढ़ाएगा। पुरूरवा और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि राजा ब्राह्मणों की संपत्ति जब्त कर सकता है या नहीं। नहुष और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि क्या क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों से गुलामों जैसा कार्य करवा सकता है।.... इससे ज्ञात होता है कि इन दोनों वर्गों के बीच कितने बड़े मुद्दे थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इनकी बीच संघर्ष सबसे अधिक कटु था। इनके बीच संघर्ष केवल यदा-कदा होने वाले दंगे नहीं थे। यह दोनों वर्ग एक-दूसरे को मिटा देने के लिए संघर्षरत थे। परशुराम जो ब्राह्मण थे। क्षत्रियों से इक्कीस बार लड़े और प्रत्यय क्षत्रियों को उन्होंने मार डाला।

वैसे वे दोनों वर्ग सर्वश्रेष्ठता के लिए आपस में लड़ रहे थे। फिर भी दोनों वैश्या और शूद्रों को वश में रखने के लिए एक थे। वैश्य दूध देने वाली गाय के समान थे। उनका कार्य केवल कर चुकाना था। आमतौर पर शुद्र भार स्वरूप जानवर थे इन दो वर्गों का एकमात्र उद्देश्य ब्राह्मण और क्षत्रिय को गौरवमय बनाना और खुशहाल रखना था। इसके अपने जीने के कोई अधिकार नहीं थे। ये लोग अपने से श्रेष्ठ लोगों के जीवन के लिए ही जी रहे थे।

इन दोनों वर्गों के नीचे भी अन्य लोग थे। ये चांडाल और खपाक थे। यह लोग मात्र अछूत ही नहीं थे, बल्कि समाज और कानून की परिधि के बाहर भी थे। इनके न तो कोई अधिकार थे और न इन्हें कोई अवसर थे। ये आर्य समाज से बहिष्कृत थे।"[73]

डॉ.अंबेडकर ने उस समय के वैदिक समाज में होने वाले वर्ण और वर्ग आधारित समाज की वास्तविक तस्वीर खींची है। उन्होंने ऐतिहासिक रूप से उनके पुराणों और धर्म ग्रंथों का अध्ययन -विश्लेषण कर अपने विचारों को लिखित रूप दिया। वे आगे बताते हैं की- "आर्यों के समाज की अनैतिकता जानकर उनके समाज एवं वंशजों को सदमा पहुंचेगा। बुद्ध पूर्व के आर्यों पर यौन और वैवाहिक संबंधों के लिए आज की प्रतिबंधित श्रेणियों जैसा नियम नहीं था।

आर्य धर्म ग्रंथों के अनुसार ब्रह्मा सृष्टि के रचयिता है। ब्रह्मा के तीन पुत्र और एक पुत्री थी। उसके एक पुत्र थी। उसके एक पुत्र यक्ष ने अपनी बहन से विवाह किया। इस भाई-बहन के विवाह से जो पुत्रियाँ पैदा हुई, उनमें से कुछ ने ब्रह्मा के पुत्र मारिची के पुत्र कश्यप से विवाह कर लिया और कुछ ने ब्रह्मा के तीसरे पुत्र धर्म से विवाह कर लिया।

ऋग्वेद मैं एक प्रसंग है की यम और यमी भाई-बहन थे। इस प्रसंग के अनुसार यमी अपने भाई यम को सहवास के लिए आमंत्रित करती है और उसके ऐसा करने से इनकार करने पर क्रोधित हो जाती है।

पिता अपनी पुत्री से विवाह कर सकता था। वशिष्ठ ने अपनी पुत्री शतरूपा के वयस्क हो जाने पर उससे विवाह किया था। मनु ने अपनी पुत्री इला से विवाह किया था। जहनु ने अपनी पुत्री जाहवी से विवाह किया था। सूर्य ने अपनी पुत्री उषा से विवाह किया था। बहुपति-प्रथा प्रचलित थी, जो साधारण किस्म की नहीं थी। आर्यों में जो बहुपति-प्रथा पाई जाती थी, उसमें

एक ही परिवार के कई लोग एक ही औरत से सहवास करते थे। धहाप्रचेतनी और उसके पुत्र सोम ने मरीश (सोम की पुत्री) से सहवास किया।"[74]

डॉ. अंबेडकर मानते हैं कि ऐसा धर्म, जिसकी नींव पौराणिक समय से रखी गई है। जिसका न आदि है ना अंत। जो अपने को दोषों का नाश करने वाला कहता है। ऐसे में उनके अपने पूर्वजों का ही इतिहास कुंटित और घृणित है। वह दलितों में तमाम तरह के बंधन और कुप्रथा के होने पर उन्हें दंडित करने का नियम बनाते हैं। उनकी अपनी जाति की ही कोई पहचान नहीं रह गई है। स्त्रियों को मान-सम्मान के स्थान पर भोग-विलास की वस्तु मात्रा समझ गया है। ऐसे धर्म को बहिष्कृत कर देना चाहिए। ऐसे समय में गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव एक युगांतकारी घटना थी। वे दलितों एवं पीड़ितों के लिए किसी चमत्कारी महापुरुष से कम नहीं थे। उन्होंने जनता को यह अहसास दिलाया कि तुम अभी जिंदा हो और तुम्हारा जन्म सुनहरे कल को देखने के लिए हुआ। ऊखाड़ फेंक दो इन बंधनों को जो तुम्हें इंसान होने के अहसास से वंचित करते हैं। डॉ. अंबेडकर का कहना है कि- "बुद्ध ने जाति-प्रथा की निंदा की।... असमानता का सिद्धांत जो कि जाति-प्रथा का आधार है, इस समय सुस्थापित हो गया था और इसी सिद्धांत के विरुद्ध बुद्ध ने एक निश्चयात्मक और कठोर संघर्ष छेड़ा। अन्य वर्गों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान के वह कितने कट्टर विरोधी थे और उनके विरोध के आधार कितने विश्वासोत्पादक थे उसका परिचय उनके बहुत से संवादों से प्राप्त होता है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण अम्बट्ठ सुत के रूप में जाना जाता है।"[75]

अंबेडकरवाद अंबेडकर जी के इन्हीं विचारों का नाम है। उन्होंने उस धर्म को ही छोड़ने की सलाह दी है जिसका मूल आधार ही वर्ण और जाति व्यवस्था है। जब इस धर्म से दूर चले जाओगे

तो इस जाति-वर्ण के जहरीले कांटों से भी अपने-आप ही मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार डॉ. अंबेडकर ने अपने वैचारिक आग्रह एवं समझ से दलितों को नयी राह दी। अपनी अलग दुनिया बसाने की कल्पना प्रदान की। इन्हीं बुनियादी विचारों, सिद्धांतों को लेकर दलित विमर्श आगे बढ़ा है, इसकी सफलता का मूल्यांकन अभी शेष है।

(घ) <u>दलित राजनीति और दलित विमर्श</u> : राजनीति एक तरह से शक्ति को चिन्हित करती है। किसी समाज एवं समय की वर्चस्ववादी सांस्थानिक शक्ति को सत्ता के रूप में पहचाना जा सकता है। सत्ता का खेल कुछ ऐसा है जहाँ जिसकी लाठी उसकी भैंस का तरीका अपनाया जाता है।

दलित विमर्श से यदि हम सत्ता के संबंध के बारे में बताए तो कुछ अलग ही कूटनीति दिखाई देगी। दलित वह वर्ग है जिसे समाज में जीने का मानवीय अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। जिस समय जो सत्ता में रहता है। वह समाज को अपनी वैचारिकी का गुलाम बनाने की कोशिश करता है। जैसे मुगलों के गुलाम हिन्दू बने, फिर अंग्रेजों के गुलाम हिन्दुस्तानी बने, ब्राह्मणों के गुलाम शूद्र बने। और अभी दलित हिंसक रूप धारण कर सवर्णों को अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। गुलामी शारीरिक नहीं होगी, किन्तु कुछ त्रासदीपूर्ण होगी। सवर्णों के जो पूर्वज गलती किये हैं, उसका खामियाज़ा अब उनके वारिसों को भोगना पड़ेगा।

प्रमुख दार्शनिक चिंतक कार्ल मार्क्स ने इतिहास का विश्लेषण करते हुए कहा था कि- “अभी तक का आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों और प्लेवियन सामंती स्वतंत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेवियन सामंती प्रभु और भूदान, शिल्प संघ का उत्साह-कारीगर और मजदूर-कारीगर संक्षेप में उत्पीड़न और उत्पीड़ित बराबर एक-दूसरे का विरोध

करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अंत हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन में, या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।"[76]

कार्ल मार्क्स के इस सामाजिक-ऐतिहासिक विश्लेषण में एक तथ्य साफ तौर पर उभर कर सामने आता है कि समाज में आरम्भ से ही दो वर्ग रहे है- एक वर्ग वह है जो सत्ता में रहता है और उसे सारे लाभ मिलते रहे है। जिसने समस्त प्राकृतिक या मानव सृजित-उत्पादित चीजों पर अपना अधिकार जमाया। दूसरा वर्ग वह है जो सारी मज़दूरी और मेहनत करके भी किसी भी चीज में अधिकार लाभ करने से वंचित रहा। इस वर्ग का सारी चीजों से संबंध बराबर का होता है। बल्कि तुलनात्मक रूप में इसका कुछ ज्यादा ही जुड़ाव रहता है। किन्तु वह मालिक नहीं दास है। उसे समाज और सभ्यता के विकास का नियामक बनना था। लेकिन उसे समाज और सभ्यता की विकास गति से सदैव ही बाहर रखा गया था। यह कुछ ऐसा था मानो फसल तुम लगाओ, खेतों को सींचने का कार्य भी तुम्हारा, फसल पक जाये तो उसे काँटकर भी तुम ही लाओगे, लाकर उसका भोजन तुम ही बनाओगे। किन्तु उस भोजन पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। उस भोजन को मैं खाऊँगा। कुछ ऐसा खेल था मालिक और दास के बीच।

कार्ल मार्क्स का कहना था कि- "वर्ग का विभाजन श्रम के विभाजन से जुड़ा है। कार्ल मार्क्स के इस उद्धरण को भारत के संदर्भ में आगे बढ़ाते हुए भारत के प्रमुख समाजशास्त्री और चिंतक डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा कि- "जाति व्यवस्था श्रम का नहीं बल्कि श्रमिकों का विभाजन है।"[77]

जाति को श्रमिकों का विभाजन कहा गया है क्योंकि जाति व्यवस्था पूर्ण रूप से उच्च वर्ग और निम्न वर्ग पर आधारित है। और ये जो पूरा ढाँचा तैयार किया गया है, वह धर्म के आधार पर हुआ है। धर्म को ही आड़ में रखकर सवर्णों ने शूद्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। अगर हम राजनीति को सही ढ़ग से समझने की कोशिश करें तो ये कुछ इस प्रकार से है -"राजनीति मूलतः 'सत्ता विमर्श' है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सत्ता' की व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति कई बार दृश्य होती है, तो कई बार अदृश्य भी रहती है। दृश्य हो या अदृश्य, किन्तु 'सत्ता' की स्थिति वहाँ होती जरूर है। तात्पर्य यह है कि सत्ता राजनीति का केंद्रीय विधान है। कहना न होगा कि राजनीतिक आंदोलन का मकसद 'सत्ता' की संरचना में परिवर्तन कर 'समाज की संरचना' में परिवर्तन करना होता है और सामाजिक आंदोलन का मकसद 'सामाजिक संरचना' में परिवर्तन करना होता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं और एक-दूसरे से टकराते भी हैं। यहीं पर यह स्मरण कर लेना जरूरी है कि 'सत्ता' का मतलब होता है, इच्छित परिणाम पाने की क्षमता। 'इच्छा' उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक के चयन में अभिव्यक्त होती है।"[78]

"19वीं शताबदी के विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलनों ने समाज के दलित वर्गों के लिए राहत का काम किया और स्वतंत्रता पूर्व के दलित आंदोलनों ने दलित राजनीति की नींव रखी। प्रथम विश्वयुद्ध के बारे में ब्रिटिश सरकार ने 1999 के अधिनियम में संवैधानिक सुधार करने के लिए विचार किया।"[79] वे आगे लिखते हैं- "कांग्रेस और हिन्दू नेताओं ने मुसलमानों के पृथक राजनैतिक अधिकारों तथा हितों को स्वीकार कर लिया था। इस समझौते में यह चिन्ता नहीं की गई कि दलित वर्गों के भी कुछ हित हैं उन्हें भी राजनैतिक अधिकार मिलने चाहिए।"[80]

राजनीति पार्टी भी बना दी गई। और यह भी तय किया गया कि वंचितों को उनका अधिकार प्रदान किया जाएगा। किन्तु यह खेल फिर से उसी लीक पर ही आ कर रह गया - हिन्दू और और मुसलमान। किन्तु सवाल यह उठता है कि इसमें दलित वर्ग बीच में से कहा गायब हो गए। इसका जवाब है कि दलित वर्ग इन्हीं दोनों के बीच पीस रहे थे और उनकी तरफ कोई ध्यान केंद्रित नहीं किया जा रहा था। भारत में मूलतः दो ही धर्म के बीच मतभेद होता रहता था। दलित वर्ग तो हिन्दुओं के भीतर ही आते हैं फिर उन पर अलग से ध्यान देने की क्या जरूरत है। परन्तु विडम्वना यही थी कि वे न तो हिन्दू बन पाये, न मुसलमान और न ही कोई अन्य धर्म से जुड़ पाए। उनका एक ही धर्म बन कर रह गया था और वह था दलित।

दलितों के मुख्य कर्ता-धर्ता अम्बेडकर जी हैं। उन्हीं के बदौलत दलितों को अपना अधिकार प्राप्त हो पाया। उन्होंने जितने भी प्रयास किए वह अद्वितीय हैं। उन्होंने दलितों के हित के लिए, उनके समस्याओं के लिए, साउथबरो समिति के समक्ष कई कथ्य प्रस्तुत किए है - "जितने वैधानिक सुधारों पर अपनी रिपोर्ट दी थी, साक्ष्य में कहा था कि दलितों को प्रायः दया का पात्र समझा जाता है, पर किसी भी राजनैतिक योजना में उनकी यह कहकर उपेक्षा की जाती कि उनके कोई हित नहीं हैं। लेकिन वास्तव में उनके ही हित ऐसे हैं, जिसकी रक्षा की सबसे बड़ी जरूरत है। इसलिए नहीं कि उनके पास कोई धन जायदाद है, जिसे हड़पे जाने से बचाना है, उनका सब कुछ छीन लिया गया है।"[81] उनका यह प्रयास बेकार ही चला गया क्योंकि कमेटी की ओर से कोई सकारात्मक परिणाम नहीं आया- "साउथबरो कमेटी ने दलितों की निर्वाचन की माँग को स्वीकार नहीं किया बल्कि उनके लिए मनोनयन की व्यवस्था की सिफारिश की। इस

कमेटी ने यह व्यवस्था इस आधार पर दी थी कि दलित वर्गों के मतदाताओं की संख्या संतोषजनक नहीं थी।"[82]

उनकी समस्याओं को यह कहकर नकार देना कि उनके मतदाताओं की संख्या संतोषजनक नहीं है बहुत ही दुखत घटना है। एक तो उनका धर्म के नाम पर शोषण किया जाता है। दूसरा यह कहना कि वे अल्पसंख्यक है। इन हालातों में एक भारतीय के पास क्या हक रह जाता है। उनको अपने ही देश में अधिकारों से वंचित रखा जाता है। क्योंकि उनकी संख्या से किसी भी पार्टी को फायदा नहीं हो सकता। हिन्दू और मुसलमान बहुसंख्यक थे, ऐसे में सभी को अपना फायदा उन्हीं दोनों में दिखाई देने लगा।

डॉ. अंबेडकर ने, "बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की ओर से जिसके वे अध्यक्ष थे, इस सिफारिश का विरोध किया।"[83] वे आगे लिखते हैं- "1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारत की संवैधानिक समस्या को सुलझाने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त किया। यह कमीशन दलित वर्गों के लिए भी संवैधानिक संरक्षणों की सिफारिश करने वाला था। किन्तु कांग्रेस और हिन्दू महासभा ने कमीशन का देशव्यापी बहिष्कार किया। बहिष्कार में मुस्लिम लीग का भी एक गुट शामिल हुआ था। लेकिन दलित वर्गों ने कमीशन का स्वागत किया था। इस स्वागत का एक कारण यह था कि कमीशन में कोई भी भारतीय सदस्य शामिल नहीं किया गया था।"[84] वे आगे बताते हैं कि- "डॉ. अंबेडकर के कमीशन को न केवल दलितों की वास्तविक संख्या से अवगत कराया, बल्कि उसके आधार पर यह मांग भी कि दलित वर्गों को हिन्दुओं से अलग एक विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग माना जाए और उनके लिए मुसलमानों की तरह का प्रतिनिधित्व दिया जाए। उन्होंने मनोनयन के सिद्धान्त का विरोध किया और निर्वाचन पद्धति की माँग की थी।"[85]

हालांकि हम अंग्रेजों के अधीन, गुलाम जरूर थे। परन्तु दलितों की दयनीय दशा देखकर उनका मन भी पसीज जाता था। परन्तु हमारे अपने ही भारतवासी उनका उत्पीड़न और शोषण करने में तनिक भी संकोच नहीं किया करते थे। जब भारत में साइमन कमीशन आया तो पूरे हिन्दुओं और मुसलमानों ने उनका विरोध किया। लेकिन दलितों की ओर से उनके लिए समर्थन में हाथ उठे। इसका कारण यह था कि उस कमीशन में दलितों के हितों के बारे में विचार किया गया था और दूसरा अह्म कारण था उस कमीशन में कोई भारतीय सदस्य शामिल नहीं किया गया था। भारतीय उनका हित कभी नहीं चाहेंगे यह निश्चित था, इसी कारण उन्होंने ब्रिटिशों का साथ देना ज्यादा मुनासिब समझा।

कंवल भारती जी लिखते हैं- "1929 ई में, जब साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी तो उसका भी कांग्रेस और हिन्दू महासभा ने व्यापक विरोध किया। लगभग उसी समय भारत के भावी संविधान की रूपरेखा तय करने के लिए लंदन में गोलमेज कांफ्रेंस की घोषणा हुई। इस कांफ्रेंस में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में डॉ. अम्बेडकर और आर. श्रीनिवास को आमंत्रित किया गया था। इस कांफ्रेंस में जो तीन चरणों में हुई थी, डॉ. अम्बेडकर ने सत्ता में भागीदारी के लिए दलितों के संवैधानिक अधिकारों हेतु उसकी अल्पसंख्यक समिति को एक ज्ञापन दिया, जिसमें उन्होंने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की मांग की थी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अपने निर्णय में, जिसे इतिहास में 'कम्यूनल अर्वाड' के नाम से जाना जाता है, वर्गों की इस मांग को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस और हिन्दू महासभा ने इस निर्णय में दलित वर्गों के लिए पृथक अधिकारों को मानने से इंकार कर दिया। उस समय गाँधी जी पूना की यरवदा जेल में थे। उन्होंने जेल में ही दलितों के पृथक अधिकारों के खिलाफ आमरण अनशन शुरू कर दिया। अंततः तमाम दबावों के

बाद दलित नेताओं और हिन्दू नेताओं के बीच समझौता हुआ, जिसे डॉ. अम्बेडकर और गाँधी जी ने अंतिम रूप दिया। यह समझौता 1932 में हुआ, जो पूना-पैक्ट के नाम से जाना जाता है।

दलित आंदोलन के राजनैतिक विकास का यह पहला चरण था। जिसने एक तीसरे राजनैतिक ध्रुव के रूप में अपनी अस्थिति दर्ज कर एक बड़ी सफलता हासिल की थी। इसने समकालीन सांप्रदायिक राजनीति में हिन्दू और मुस्लिम दोनों समुदायों के नेताओं को यह अनुभव कराया था कि जाति भी भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी सच्चाई है, जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता।"[86]

भारतीय दलित इतिहास का यह पहला मौका था, जब दलितों को उनके पृथक अधिकांरों की मांग में सफलता प्राप्त हुई थी। यह एक लम्बे अंतराल के बाद संभव हो पाया और यह सब संभव हो पाया डॉ. अम्बेडकर और गाँधी जी के कारण। बहरहाल कांग्रेस और हिन्दुओं द्वारा इसका विरोध किया गया था। यह एक शुरूआत थी आगे जंग जारी थी- "पूना पैक्ट के बाद दलित राजनीति के गाँधीवादी मॉडल का उदय हुआ। गाँधी जी ने दलितों को 'हरिजन' नाम दिया। इसलिए हम इस मॉडल को हरिजन राजनीति का भी नाम दे सकते हैं।"[87]

गाँधीजी के कारण दलितों को हरिजन नाम मिला। जिसमें उन्हें उनके पैतृक कार्य को ही करते रहने को कहा गया था। कहा गया कि सफाई का कार्य दुनिया का सबसे महान काम है। इसे करते हुए किसी भी प्रकार की शर्मिंदगी महसूस करने की आवश्यकता नहीं हैं। यह दलितों के लिए एक प्रकार का भटकाव का कार्य भी था। हालांकि उस समय हरिजन राजनीति बड़े ही चर्चा का विषय बनी। दलितों द्वारा गाँधी को भगवान की उपाधी मिलने लगी। वे यह समझने लगे कि

अगर गाँधीजी स्वयं अपना काम एवं सफाई कर सकते हैं तो हमें करने में क्या हर्ज है। गाँधी जी की प्रेरणा से वे अपना काम करते रहे।

"हरिजन राजनीति की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। पहली यह कि इसने अस्पृश्यता निवारण के लिए काम किया। उसके राजनीतिक निहितार्थ दलितों को हिन्दुत्व की परिधि में रखने के ही है, परन्तु यह हमें ईमानदारी से स्वीकार करना होगा कि इसे गाँधी जी ने गंभीरता से लिया था।

हरिजन राजनीति की दूसरी विशेषता है कि उसने अम्बेडकर विरोधी चेतना का विकास किया जिसका उद्देश्य निश्चित रूप से परिवर्तनकारी (रेडिकल) दलित आंदोलन को रोकना था, जो उस समय एक बड़ी भूमिका में था। हरिजन राजनीति में जो दलित नेतृत्व उभरा वह गाँधीवादी तो था ही अम्बेडकर विरोधी भी था।"[88]

यह समय था जब गाँधीजी के सिद्धांतों के पीछे दलित चल रहे थे। दलितों को हरिजन कहकर उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति में उलझा कर रखना अंबेडकर को नागवार गुजर रहा था। वे इनका विरोध करने लगे। वे गाँधी जी को एक भ्रम पैदा करने वाले व्यक्ति के रूप में समझ कर दलितों को अपनी तरह से जागरूक करने की कोशिश कर रहे थे। क्योंकि गाँधीजी द्वारा हरिजन राजनीति चलाना एक प्रकार से दलितों को सदैव के लिए गहरी नींद में सुलाने जैसा था।

"सन् 1936 में अम्बेडकर ने दलितों की सशक्त राजनीतिक अभिव्यक्ति के उद्देश्य से 'इंडिपेंडेट लेबर पार्टी' की स्थापना की।"[89]

समसामयिक परिस्थितियों को देखकर वह यह महसूस करने लगे थे कि यहाँ समस्याएँ केवल दलितों की ही नहीं, बल्कि अन्य जातियों की भी थी। दलित और अन्य जातियों के बीच किसी राजनीतिक सहयोग की आवश्यकता वे महसूस करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि

उन्होंने अपनी पार्टी का नाम जाति-सूचक के स्थान पर वर्ग सूचक रख दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि "पार्टी श्रमिकों का संगठन है क्योंकि इसका कार्यक्रम मुख्यतः श्रमिक वर्ग का कल्याण है। इसलिए दलित के स्थान पर लेबर शब्द को रखा गया हैं। क्योंकि श्रमिक में दलित भी शामिल हैं।"[90]

इस पार्टी ने दलितों और श्रमिकों के हित एवं उनके उत्थान के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये, जो उल्लेखनीय है। "सन् 1942 में अम्बेडकर को वाइसराय की कौंसिल में श्रम सदस्य के रूप में मनोनीत किया गया।"[91] "श्रम सदस्य की हैसियत से उन्होंने श्रमिकों की सुरक्षा और गर्भवती महिलाओं के लिए तीन माह के प्रसूति अवकाश के कानूनी प्रावधान निर्धारित कर श्रमिकों के लिए सुधारात्मक कार्य किए।"[92] कामकाजी महिलाओं को तीन माह का प्रसूति अवकाश मानवीय एवं नैतिक दोनों ही रूपों में महान है। अभी यह अवधि बढ़ गई है। किन्तु उस समय महिलाओं के लिए इतना सोचना किसी महान कार्य से कम नहीं है। "इसी वर्ष उन्होंने दलितों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए 'शेडयूल्ड कास्टस फेडरेशन' की स्थापना की व दलितों को शिक्षा, संगठन और संघर्ष का नारा दिया।"[93]

यह बात अम्बेडकर ने समझ ली थी कि अगर दलितों की स्थिति में सुधार लाना है तो पहले उन्हें शिक्षित करना होगा। इसीलिए उन्होंने अपना ध्यान शिक्षा की ओर केन्द्रित करना शुरू किया। शिक्षा अपने-आप ही सही और सफलता की राह दिखा देती है। उनका यह मानना हर तरफ से उचित और न्यायपूर्ण था।

"15 अगस्त 1947 को जब भारत स्वतंत्र हुआ तब उन्हें स्वतंत्र भारत का प्रथम कानून मंत्री नियुक्त किया गया। इसी वर्ष उन्हें भारत के संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया गया"[94]

"आधुनिक भारत के संविधान निर्माण में उनके अप्रतिम योगदान के कारण उन्हें संविधान निर्माता कहा जाता हैं।

सन् 1951 में अम्बेडकर ने 'हिन्दू कोड विल' पर हुए विवाद के कारण नेहरू मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र दे दिया"[95]

"हिन्दू कोड बिल पर कानून मंत्री के रूप में उन्होंने कहा था कि- "हिन्दू कोड बिल इस देश में व्यवस्थापिका द्वारा हाथ में लिया गया सबसे महत्त्वपूर्ण समाज सुधार है।"[96]

हालांकि अम्बेडकर जी कोड बिल के माध्यम से दलितों को उनका अधिकार दिलाने की कोशिश में उतने सफल नहीं हो पाए। हमारे देश में कुछ डिजाईनर नेता और कट्टरपंथियों के विरोध के कारण 'हिन्दू कोड बिल' एकमुश्त रूप से पारित नहीं हो पाया। अम्बेडकर ने जितना दलितों और मानवता के लिए किया वह अद्वितीय हैं- "अपने जीवन के अंतिम चरण में अम्बेडकर बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गए। एक कबीरपंथी परिवार में जन्म लेने से लेकर बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में निर्वाण की प्राप्ति तक अंबेडकर का सारा जीवन दलित और पीड़ित मानवता के कल्याण के लिए समर्पित रहा। उनके विचार-दर्शन को किसी जाति, धर्म और देश की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता वरन् उनका दर्शन तो सम्पूर्ण विश्व पर लागू होता है। जहाँ पर मानव मात्र शोषण और उत्पीड़न का शिकार है।"[97]

"साठ के दशक में डॉ. अम्बेडकर के दलित आंदोलन की जमीन पर भारतीय रिपब्लिकन पार्टी को व्यापक सफलता प्राप्त हुई। उसका जनाधार महाराष्ट्र के साथ-साथ उत्तर प्रदेश में भी खड़ा हो गया। 1962 के आम चुनावों में उत्तर प्रदेश से विधानसभा के 11 तथा लोकसभा में चार रिपब्लिकन पार्टी के सदस्य चुने गए।"[98]

इस पार्टी ने जाति का टैग लगाकर राजनीति नहीं की, बल्कि दलित मजदूरों और किसानों की समस्याओं को केन्द्र में रख कर राजनीति की थी। यह वह वर्ग है जो समाज में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनके बिना समाज व्यवस्थित नहीं रह पायेगा। फिर भी इन्हें निम्न समझकर नज़रअंदाज कर दिया जाता था। उसी चीज को पार्टी ने प्रमुखता दी, जो तब की राजनीति में अनूठी और नई पहल थी।

"रिपब्लिकन पार्टी के पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष दादा साहेब गायकवाड़, जो डॉ. अम्बेडकर के विश्वसनीय साथी और अनुयायी थे। रिपब्लिकन पार्टी का पतन उसके उभार के दस साल बाद ही शुरू हो गया था। समाजवाद के जिस लक्ष्य को लेकर पार्टी चल रही थी, वह कांग्रेस के लिए खतरनाक था।"[99]

कांग्रेस ने रिपब्लिकन पार्टी के प्रभावशाली नेताओं को धीरे-धीरे कर वहाँ से निकालना शुरू किया। यहाँ एक अलग तरह की राजनीति शुरू हो गई थी। उन्होंने सत्ता का प्रलोभन देकर पार्टी का विभाजन करना आरम्भ कर दिया। सभी इस लालच में कि अपनी एक अलग पार्टी बनेगी, जिसका मुख्य नेता मैं बनाऊँगा, सत्ता मेरे हाथ में रहेगी इस तरह के विचारों का पनपना शुरू होने लगा। दादा साहेब गायकवाड़ की मृत्यु के बाद पार्टी राजनीतिक

अवसरवाद की भेंट चढ़ गई और जो दलित राजनीति का मूल लक्ष्य था उसमें बिखराव आने लगा।

"रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद कांग्रेस पुनः दलित वर्गों को अपने साथ जोड़ने में सफल हो गई। 1971 में इंदिरा गाँधी ने जगजीवन राम को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया। उसी वर्ष माध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस 'गरीबी हटाओं' के नारे पर पुनः सत्ता में वापस आई। बीस सूत्री कार्यक्रम और हदबंदी कानून लागू कर कांग्रेस ने दलित वर्गों को लुभाया और दलित राजनीति अपना वजूद खोकर इसी प्रतिक्रांति की सहयोगी बन गई।"[100]

इसके बाद 1980 तक दलित राजनीति एक प्रकार से मृतप्रायः स्थिति में पहुँच जाती है। वे कांग्रेस के वोट बैंक बन कर रह गये थे। उनका मुद्दा या उनके विषय में सोचने वाला कोई नहीं रहा था। कांग्रेस पार्टी अपनी राजनीति चला रही थी और दलित वर्ग कांग्रेस के समर्थन रूप में रह गए । दलित आंदोलन का अस्तित्व खत्म होता हुआ सा दिखाई दे रहा था। 1980 में कांशीराम के उभार ने दलित राजनीति में जान डाल दी। वे दलितों के नायक / मसीहा बन गए थे - "1980 में दलित आंदोलन के नए नायक के रूप में कांशीराम का उदय हुआ। उन्होंने 1978 के अंतिम महीने में बामसेफ (बेकवर्ड एंड मॉइनोरिटी कम्युनिटीज इम्पाईज फेडरेशन) की स्थापना की, जो 1980 तक दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारियों का विशाल संघ बन चुका था।"[101]

"कांशीराम ने 1981 में डी. एस- 4 अर्थात् 'दलित शोषित समाज संघर्ष समिती' का गठन किया। इसी संगठन से उन्होंने हरियाणा में 1982 में विधान सभा चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े किये। इस चुनाव में उन्हें 57,588 (1.19 प्रतिशत) वोट मिले। यह एक प्रयोग था, जिसमें वे

सफल हुए। इसके दो साल बाद 1984 में उन्होंने बाकायदा नई राजनीतिक पार्टी 'बहुजन समाज पार्टी' (बसपा) बनाई।"[102]

कांशीराम का यह प्रयास दलित वर्ग के लिए एक उम्मीद की किरण बनकर आया। रिपब्लिकन पार्टी के बाद मानो दलित अपना वही पुराना अभिशाप भरा जीवन जीने को मज़बूर थे। उनके पास और कोई विकल्प भी नहीं था। कांग्रेस पार्टी सत्ता में बने रहने के लिए उनका इस्तेमाल कर रही थी। इस प्रयास में कांशीराम की विजय हुई और उन्होंने बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की।

"कांशीराम ने 1988 में बसपा की ओर से सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति के आंदोलन चलाए इनमें स्वाभिमान आंदोलन, किसान, मज़दूर आंदोलन सफाई मज़दूर आंदोलन, दस्तकार आंदोलन, शरणार्थी आंदोलन और भागीदारी मुख्य थे।"[103] इस तरह से उन्होंने सभी वर्गों के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया जो किसी न किसी रूप में जो शोषण का शिकार थे। इन सब के मुद्दों को उन्होंने आंदोलन का रूप दिया जो जन क्रांति का रूप ले चुकी थी।

"महाराष्ट्र के दलित वर्गों ने कांशीराम को स्वीकार नहीं किया। पर उत्तर प्रदेश में उन्हें सफलता मिल गई। इधर रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद आये राजनीतिक शून्य को बसपा ने भर दिया। कांशीराम ने जाति उन्मूलन को अपना ध्येय नहीं बनाया, वरन जाति के उभार को अपनी राजनीति के केंद्र में रखा। पिछड़ी जातियों के लिए मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की माँग को भी उन्होंने अपने आंदोलन में शामिल किया और रैलियाँ की, जिसे लागू करने का श्रेय 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह को मिला।"[104]

रिपब्लिकन पार्टी के बाद बसपा दलितों के हित के लिए केन्द्र में रही। उन्होंने उस नाँव को डुबने से बचाया जो रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद डगमगा रही थी। इसने दलितों को फिर से हाशिए पर जाने से बचा लिया। "90 का दशक आरम्भ हो गया था। कांशीराम के राजनीतिक आंदोलन ने उत्तरप्रदेश में दलित वर्गों में नया उत्साह भर दिया था। दलित वर्गों का इतना विशाल ध्रुवीकरण इससे पहले नहीं देखा गया। 1993 में कांशीराम ने समाजवादी पार्टी के मुखिया मुलायम सिंह यादव से राजनीतिक गठबंधन किया और उसी वर्ष के विधान सभा चुनाव सपा-बसपा गठबंधन ने मिल कर लड़े।"[105] 1993 में सपा-बसपा गठबंधन की उत्तर प्रदेश में पहली सरकार बनी और मुलायम सिंह यादव उसके मुख्यमंत्री बने। "जैसे-जैसे कांशीराम और मायावती की राजनीतिक गतिविधियाँ बढ़ती गई, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया की उनका राजनीतिक मकसद कांग्रेस को कमज़ोर करने का नहीं वरन् ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद के खिलाफ दलित आंदोलन के मूल संघर्ष को खत्म करना था।"[106] "सरकार बनने के बाद से ही सपा-बसपा गठबंधन को तोड़ने की कोशिशें शुरू हो गई थी। भाजपा ने मायावती को मुख्यमंत्री बनाने का लोभ देकर सत्ता का सूत्र अपने हाथों में रखने में सफलता हासिल कर ली। गठबंधन टूटा और जून 1995 में मायावती भाजपा के समर्थन से मुख्यमंत्री बन गई।"[107]

"अब कांशीराम और मायावती का राजनीतिक खेल पूरी तरह खुलकर सामने आ गया था। 1932 में पूना पैक्ट ने जो भूमिका निभाई थी। वही भूमिका बसपा और भाजपा के पैक्ट ने 1995 में ब्राह्मणवाद के डूबते जहाज़ को ऊपर लाने में निभाई।"[108]

"1995 से 2005 तक दस सालों में काँशीराम और मायावती ने हर राजनीतिक कदम भाजपा की नीतियों के समर्थन में उठाया। कहीं मौन रहकर और कहीं बोलकर उन्होंने भाजपा का पक्ष लिया।"[109]

"दूसरी बार 1997 में और तीसरी बार 2002 में मायावती भाजपा के सहयोग और समर्थन से ही मुख्यमंत्री बनी।"[110]

"उनके पास अपना न कोई राजनीतिक कार्यक्रम था और न आर्थिक दर्शन- सिवाय मनुवाद-मनुवाद चिल्लाकर जातीय संघर्ष का वातावरण पैदा करने के। आज उत्तर प्रदेश में मायावती पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में है। लेकिन लगता है कि पूना पैक्ट के बाद से दलित राजनीति ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद से नियंत्रित और संचालित हो रही है।"[111] भारतीय राजनीति की सबसे बड़ी खामी यही है कि यहाँ कोई किसी का नहीं है। सब अपने मतलब के लिए राजनीति में उतरे हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

राजनीतिक दलों ने समाज वर्ण, जाति, उपजाति में विभाजित करके खण्डित करने का षड्यंत्र किया है। पहले जो दलित कहलाते थे, अब वे चमार, महार, नाई पार्टी इस तरह से दिखाई देने लगे हैं। आपस में एकजुट होकर अपना हक लेने के स्थान पर ईर्ष्या-द्वेष का भाव आ गया है। अभी की स्थिति और भी ज्यादा भयंकर हो गई है। अब राजनीतिज्ञ इस मुद्दे को चला रहे है कि चमारों को इतना लाभ मिला, हम महार जातियों को कम लाभ मिला। लोग आपस में ही लड़ रहे हैं और जो उनका मुख्य उद्देश्य था वह वर्षों पहले ही पीछे छोड़ दिया गया।

संदर्भ सूची

1. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005 पृ. 14
2. दलित साहित्यः दशा एवं दिशा, माताप्रसाद, भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन, 2003, पृ. 73
3. हिन्दी साहित्य में हाशिए का विमर्श, संघर्ष और मुक्ति, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, राजकमल प्रकाशन, पृ. 157
4. वही, पृ. 165
5. हिन्दी साहित्य में दलित चेतना, सं. डॉ. आनंद वास्कर, विद्या प्रिंटर्स, कानपुर, प्रथम संस्करण-1987, पृ. 298
6. बृहद हिन्दी कोश, संपादक कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुंदी लाल श्रीवास्तव, ज्ञानमंडल प्रकाशन, 2014, पृ. 510
7. डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', युद्धरत आम आदमी, संपादक -रमणिका गुप्ता, 1998, अंक-41-42, पृ. 14
8. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि , राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, पृ. 14
9. कंवल भारती- युद्धरत आम आदमी 1998, अंक-41-42, पृ. 42
10. हिन्दी **साहित्य** कोश, संपादक मंडल डॉक्टर धीरेंद्र वर्मा, डॉक्टर बृजेश वर्मा, ज्ञान मंडल प्रकाशन, 2020, पृ. 284
11. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि , राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, पृ. 15
12. वही, पृ. 1

13. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना, डॉ. बलवंत साधु जाधव, अलका प्रकाशन, कानपुर, 1992, पृ. 22

14. (Harsh Mander – "Anubhav" March 1997), Dalit status and an agenda for state intervention, Editor Mathew Mattam, p. 4

15. डॉ. अम्बेडकर राइटिंग एंड स्पीच, खण्ड 5, एजुकेशन डिपार्मेंट, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, पृ. 363, सं. 1990

16. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, शरण कुमार लिंबाले, लोक चेतना प्रकाशन, 2016 पृ. 42

17. बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर- संपूर्ण वाङमय, खंड-5, प्रकाशक- डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1993-1995, पृ. 15

18. राष्ट्रीय सहारा (समाचार पत्र), सूर्यनारायण रणसुभे, 12-2-94, दिल्ली संस्करण-1

19. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना, डॉ. बलवंत साधु जाधव, अलका प्रकाशन, कानपुर, 1992, पृ. 10

20. वही, पृ. 50

21. सत्ता संस्कृति और दलित सौन्दर्यशास्त्र, सूरज बड़त्या, भारतीय दलित अध्ययन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड व्दारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 2010, नई दिल्ली, पृ. 102

22. हिन्दी दलित कथा-साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, डॉ. रजत रानी 'मीनू', अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, प्रथम संस्करण 2010, नई दिल्ली, पृ. 39

23. वही

24. वही

25. वही

26. वही

27. वही, पृ. 39-40

28. वही, पृ. 40

29. वही

30. डॉ. अम्बेडकर राइटिंग एंड स्पीचेज, एजुकेशन डिपार्मेंट, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, संस्करण 1982, पृ. 660

31. हाशिये की वैचारिकी, सं. उमा शंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिसटीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2008, पृ. 246

32. वही, पृ. 246

33. समकालीन जनमत, चंचल चौहान, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2004, पृ. 81

34. आधुनिकता के आइने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

35. आधुनिकता के आइने में दलित, सं. अभय कुमार दुबे, आदित्य निगम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002

36. टुइर्स ए दलिताइजेशन ऑफ द नेशन, कांचा इलैय्या, पृ. 285

37. महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली, अनुवाद एवं संपादन : एल. जी. मेश्राम, 'विमलकीर्ति', पृ. 138

38. दलित विमर्श की भूमिका, कंवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद

39. दलित विमर्श की भूमिका, कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद

40. सच्ची रामायण, पेरियार, रामास्वामी नायकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2020, भूमिका से

41. दलित विमर्श की भूमिका, कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001, पृ. 55

42. वही, भूमिका

43. महानायक बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, मोहनदास नैमिशराय, धम्म चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली, 2013, पृ. 166

44. वही, पृ. 166-167

45. आचार्य प्रल्हाद केशव अत्रे, संपादकीय- नवयुग मराठी, सप्ताहिक पत्र, 13 अप्रैल, 1947

46. सामाजिक क्रांति, संग्राम के सेनानी, एडवोकेट शाम तांगडे, पृ. 68

47. M.K. Gandhi, Harijan (English) 11.2.1933, weekly journal, vol. 1, published by Navajivan House

48. वही, 18.2.1933

49. डॉ. अम्बेडकर, मूकनायक, मराठी, 31.01.1920, पहला अंक, मुंबई

50. Dr. B. R Ambedkar, Writing and speech, Vol. 1, Government of Maharashtra, page no. 46, 1990

51. Dr. B. R Ambedkar, Writing and speech, Vol. 9, Government of Maharashtra, page no. 239, 1990

52. Dr. B. S Ambedkar, Writing and Speeches, vol. 1, Government of Maharashtra, p. 327-329, 1990

53. Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writing and Speeches, Vol.1, Government of Maharashtra, p.90, 1990

54. वही

55. Dr. Baba Saheb Ambedkar, Writing and Speeches, Vol.1, Govt. Maharashtra, p. 61, 1990

56. M. K Gandhi, Harijan (ENGLISH), 4.3.1933, weekly journal, vol. 1, published by Navajivan House

57. गाँधी और कांग्रेस ने अछूतों के लिए क्या किया? डॉ. अम्बेडकर, अनु. ज. कुरील, गौतम बुक सेंटर, 2017, पृ. 289-290

58. अम्बेडकर की समस्याएँ, अभय कुमार दुबे, समीक्षा लेख, हंस (मासिक) 1991 अगस्त, संपादक- राजेन्द्र यादव, पृ. 76-79

59. बुध्द का दर्शन, अम्बेडकरवाद का दार्शनिक आधार, डॉ. जी. एल. मेश्राम 'विमलकीर्ति' संगीत प्रकाशन, 1994, पृ. 6

60. वही

61. वही

62. वही

63. वही

64. वही

65. वही, पृ. 7

66. वही

67. महानायक बाबा साहेब डॉ. आम्बेडकर, मोहनदास नैमिशराय, प्रकाशन- धम्म ज्योति चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली, 2013, भूमिका से

68. डॉ. अम्बेडकर- गाँधी और दलित पत्रकारिता, श्यौराज सिंह बेचैन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2010, पृ. 136

69. बाबा साहेब अम्बेडकर, विजय गंगाधर सुरवाडे, पत्र- व्यवहारंतून, खण्ड प्रथम, तथागत प्रकाशन, 1989, पृ. 3

70. प्राचीन भारत, रोमिला थापर का लेख , पेंगुइन प्रेस प्रकाशन, सं.2001, पृ. 35

71. सत्ता संस्कृति और दलित सौन्दर्यशास्त्र, सूरज बड़त्या, भारतीय दलित अध्ययन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड व्दारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 73

72. वही

73. वही, पृ. 74-75

74. वही, पृ. 75

75. वही, पृ. 76

76. कम्युनिष्ट, पार्टी का घोषणा पत्र, कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स,चार्ल्स एच. केर पब्लिशिंग कंपनी, शिकागो (Chicago), पृ. 24

77. जाति का जहर, लेख- डॉ. भीमराव अंबेडकर, संपादक- राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, 2011 पृ. 14

78. दलित राजनीति की समस्याएँ (आज के प्रश्न-18), संपादकः राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, 2006, नई दिल्ली, पृ. 37

79. दलित विमर्श की भूमिका, कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004 पृ. 72

80. वही, पृ. 72

81. वही, पृ. 73

82. वही, पृ. 73

83. वही, पृ. 73

84. वही, पृ. 73

85. वही, पृ. 73

86. वही, पृ. 74

87. वही, पृ. 77

88. वही, पृ. 78

89. गाँधी और अम्बेडकर, गणेश मंत्री, प्रभात प्रकाशन, 5 अप्रैल 2019, पृ. 246

90. आधुनिक भारत के निर्माता भीमराव अम्बेडकर, डब्ल्यू. एन. कुबेर, प्रकाशन विभाग, 2019, पृ. 42

91. डॉ. अम्बेडकर जीवन और दर्शन,डॉक्टर बृजेश कुमार पांडे, नमन प्रकाशन, 2016 , पृ. 102

92. भारत में दलित चेतना (गाँधी और अम्बेडकर), संदीप सिंह चौहान, आर. बी. एस. ए प्रकाशन, 2004, पृ. 70

93. गाँधी और अम्बेडकर, गणेश मंत्री, प्रभात प्रकाशन, 5 अप्रैल 2019, पृ. 263-64

94. डॉ. अम्बेडकर जीवन और दर्शन, डॉक्टर बृजेश कुमार पांडे, नमन प्रकाशन, 2016, पृ. 108

95. आधुनिक भारत के निर्माता, भीमराव अम्बेडकर, डब्ल्यू. एन. कुबेर, प्रकाशन विभाग, 2019, पृ. 57

96. दस स्पोक अम्बेडकर, सं. भगवानदास, गौतम बुक सेन्टर, 2007, 1.संस्करण, पृ. 30

97. भारत में दलित चेतना: गाँधी और अम्बेडकर, संदीप सिंह चौहान, आर बी एस ए प्रकाशन, 2004, पृ.71

98. दलित राजनीति की समस्याएँ (आज के प्रश्न-18), संपादकः राजकिशोर, वाणी प्रकाशन पहला संस्करण, 2006, नई दिल्ली, पृ. 14

99. वही, पृ. 15-16

100. वही, पृ. 16

101. वही, पृ. 16

102. दलित राजनीति की समस्याएँ (आज के प्रश्न-18), संपादकः राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण, 2006, नई दिल्ली, पृ. 16-17

103. कंशीराम के दो चेहरे, कंवल भारती, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2013, पृ. 14

104. दलित राजनीति की समस्याएँ (आज के प्रश्न-18), संपादकः राजकिशोर, वाणी प्रकाशन पहला संस्करण, 2006, नई दिल्ली पृ. 18

105. वही, पृ. 19

106. वही, पृ. 20

107. वही, पृ. 20

108. वही, पृ. 20

109. वही, पृ. 20

110. वही, पृ. 20

111. वही, पृ. 21

द्वितीय अध्याय

दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज, पारिवारिक जीवन एवं उत्पीड़न का स्वरूप

क) समाज

ख) पारिवारिक जीवन

ग) उत्पीड़न

“नारीवादी साहित्य का तात्पर्य है, नारी से संबंधित साहित्य अथवा वह साहित्य जो नारी के लिए या नारी को विषय केन्द्रित करके लिखा गया हो। भारतीय समाज की किसी भी नारी का स्थान दलित की श्रेणी में ही आता है। भले ही वह नारी सवर्ण समाज की हो या पिछड़े दलित समाज की हो। पुरुष वर्ग की प्रताड़ना प्रत्येक नारी को सहनी पड़ती है। फिर भी दलित स्त्रियों की समस्याएँ और व्यथाएँ अधिक हैं। क्योंकि उसे मनुवादी व्यवस्था के साथ-साथ, दलित होने का अभिशाप भी भोगना पड़ता है।”[1]

नारी समाज का प्रतिबिम्ब होती है। यह बाते कितने ही लोग समझ पाते है, यह मात्र एक विचार या कथन नहीं हैं। अगर समाज को विकास की ओर ले जाना है तो स्त्री-पुरुष दोनों को ही समान अधिकार और सम्मान देना होगा। किन्तु यहाँ सवाल एक समान अधिकार देने का है ही नहीं। यहाँ सवाल है हर बार पुरुषों से ही जोड़कर चीजें क्यों प्राप्त होगी, वह स्त्री है क्या केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है।

हिन्दी के दलित साहित्य में स्त्रियों की आत्मकथा मैंने जब पढ़ी तब मुझे स्पष्ट रूप से समझ में आया कि दलित स्त्रियाँ समाज में अन्य सवर्ण स्त्रियों की तुलना में अधिक अपमान, तिरस्कृत भरा जीवन जीती हैं। दलित स्त्रियाँ समाज में तिहरे अभिशाप का शिकार होती हैं। पहला दलित होने का, दूसरा स्त्री होने का, और तीसरा दलित स्त्री होने का। इन तीनों प्रकार से उनको गुजरना पड़ता है। क्योंकि स्त्री विमर्श की आधुनिक जागरूकता जो समाज में चल रही है वह सवर्ण स्त्रियों द्वारा लड़ी जा रही लड़ाई है। उस लड़ाई में वे दलित स्त्रियों को शामिल नहीं करना चाहते। इसका कारण यह है कि सवर्ण स्त्रियाँ यह समझती हैं कि दलित स्त्रियों को तो उनका मानवाधिकार दलित के रूप में प्राप्त हो ही रहा है। फिर उन्हें स्त्री विमर्श में शामिल होने

की कोई आवश्यकता नहीं हैं। इन शर्तों से वे तीसरी श्रेणी में आ जाती हैं। जहाँ वे न सम्पूर्ण स्त्री रहती हैं, न सम्पूर्ण दलित। समाज में दलित स्त्रियों को कई प्रकार की प्रताड़ना से होकर गुजरना पड़ता है, किन्तु अन्य स्त्रियाँ उन्हें घृणा और तिरस्कृत की नज़रों से ही देखती हैं। ऐसे में वे हर तरफ से उत्पीड़न और शोषण का शिकार होती हैं।

क) <u>समाज</u> : दलित समाज सवर्णों के समाज से बहुत अलग होता है। यह वह समाज है, जहाँ लोग उत्पीड़न सहते-सहते यह तक भूल जाते हैं कि वे मनुष्य भी हैं। या यूँ कहें कि समाज के ठेकेदारों ने कुछ इस तरह से व्यवस्था बना रखी है, जिसके कारण दलित वर्ग अपनी उड़ान पूर्ण रूप से नहीं भर पा रहा है। यह ब्राह्मण समाज द्वारा किया गया षड्यंत्र है।

इन सब से अलग दलित स्त्री समाज है जहाँ वे हर रोज़ अपनी हक की जमीन पाने के लिए निरंतर संघर्ष करती रहती हैं। कुछ तो स्वयं पुरुष सत्ता के आगे अपने हथियार डाल देती हैं। दलित स्त्री आत्मकथाओं का ताना-वाना इसी के ईर्द - गिर्द घूमता नज़र आता है। दलित स्त्रियों की आत्मकथा में उनके प्रताड़ित होने का स्वरूप एक-सा है बस व्यक्ति और स्थान बदल जाते हैं। क्योंकि समस्याएँ तो एक समान ही होती हैं। ये आत्मकथाएँ पढ़ने के बाद इतना तो स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि आखिर वह क्या वजह रही होगी, जिसके कारण दलित स्त्रियों की आत्मकथा इतनी कम लिखी गयी हैं।

दलित समाज के भीतर की पितृसत्तात्मक व्यवस्था और स्त्री उत्पीड़न की वास्तविकता को उजागर करती कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' का यह कथन उल्लेखनीय है - "पिताजी ने सवेरे ही मांस खरीद कर रखा था, ज्यादातर हम लोग गाय का मांस खाते थे।

बस्ती के लोग भी ज्यादातर गाय का ही मांस खाते थे। यह मांस सस्ता होता था।"[2] दलित समाज के लोग इतने लाचार और गरीब होते हैं कि मांस खाने की इच्छा हो तो भी वे नहीं खा पाते है, अगर खा भी ले तो भी सप्ताह में एक दिन, वह भी गाय का मांस खाते थे। क्योंकि वह सस्ता पड़ता था। दलित लोग अच्छी जिन्दगी तो जीना चाहते हैं, किन्तु वे विवश और लाचार हैं। लेखिका आगे लिखती हैं कि - "हमारे बस्ती के लोग मांस खरीदकर किसी कपड़े में बांधकर लाते थे। कपड़े में से पूरे रास्ते भर खून टपकता रहता था। देखने में भद्दा लगता था। माँ को यह देखकर बहुत बुरा लगता था। वह जिसको भी कपड़े में माँस बांधकर लाते देखती उसे टोक देती थी। उन्हें समझाती थी कि किसी डिब्बे या बर्तन में मांस लाया करो, ढककर। लोग देखकर कहेंगे, कि हम गंदे लोग हैं।"[3] ऐसा जीवन जीने को मज़बूर हैं। वे चाह कर भी समाज के द्वारा बनाये वर्णव्यवस्था के कारण वे सम्पन्न जीवन नहीं जी पा रहे थे।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा की भूमिका में ही समाज द्वारा प्रदत्त यातना और पीड़ा को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है - "नानी द्वारा जीया जीवन मेरा भी जीवन बन सकता था। मैंने उसकी पीड़ा हर दिन, हर क्षण अपने ह्रदय पर झेली है, मन-मस्तिष्क से उतनी ही वेदना सही है, मेरा दर्द उस शिक्षित, सम्मानित दलित महिला का दर्द है जो पी.एच.डी प्राप्त, कॉलेज की प्राध्यापिका होने के बाद भी जाति के रोजगार के नाम से जानी जाती है। मेरी आत्मकथा, मेरी वेदना का दस्तावेज है। इस वेदना- पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा जब समाज की मानसिकता बदलेगी, जब पूरी समाज व्यवस्था बदलेगी।"[4] यहाँ लेखिका ने अपने समाज की विकृत मानसिकता पर प्रहार किया है। इसी कारण हमारा भारतीय समाज इतना खोखला और कमजोर है।

अस्पृश्य समाज में अत्याचार करना कुछ दशक पूर्व बड़ा ही आसान था इसका मूल कारण है अशिक्षा और बेरोजगारी। 'दोहरा अभिशाप' में कौशल्या जी अपने समाज की इस व्यथा को बताती हैं। वे लिखती हैं कि - "तब गाँव में अस्पृश्य समाज में न लड़की, न लड़का पढ़ने जाते थे, न गाँव में स्कूल था। कुछ ही गाँवों में स्कूल थे। परन्तु अस्पृश्य समाज में उस वक्त इतनी जागृति नहीं आई थी। अपने भरणपोषण के लिए ही इनका सारा समय गुजर जाता था।"[5] अगर शिक्षा होती तो बहुत सारे अत्याचारों से स्वयं की रक्षा कुछ हद तक की जा सकती थी। ऐसे में जिन्दगी चलाना बड़ा ही दुखदाई बन जाता है - "अस्पृश्यता का पालन बहुत कट्टरता से होता था इसलिए सवर्णों के घरों में इनको काम नहीं मिलता था। सिर्फ लकड़ियाँ काटना या कुछ भारी सामान ढोने का काम ही इन्हें मिलता। अकसर बड़े कष्ट के काम ही इनके हिस्से में आते थे।"[6]

समाज में जातिभेद इतना माना जाता है कि इंसान, इंसान और जानवर का फर्क भूल जाते हैं। सुशीला जी बताती हैं कि - "गाँवों में वर्णभेद-जातिभेद की बुराइयाँ बसती थी। अछूत माने गये जाति - समुदाय के लोग समाज व्यवस्था के नियम से गाँव के बाहर बसाये जाते थे।"[7] दलितों की जिन्दगी जाति व्यवस्था के नाम पर बद से बदतर की जाती थी। वे अशिक्षा के कारण सबकुछ सह लेते थे। सुशीला जी लिखती हैं कि - "मनुस्मृति में अछूतों को शिक्षा से दूर रखने के निर्देश दिये गये हैं। समाज में इन निर्देशों का पालन श्रद्धा और निष्ठा के साथ किया जाता था। गाँव में जाति व्यवस्था की जड़ें ज्यादा गहरी थी।"[8] साथ ही इनके अत्याचार ऐसे होते थे कि दलित अगर चाहे तो भी खुद की स्थिति सुधार नहीं पाते थे। लेखिका आगे लिखती है कि - "बड़ी बहन रज्जो दीदी शारीरिक रूप से कुछ कमज़ोर थी इसके साथ गाँव के जातिभेद और छुआछूत के कारण वह दूसरी कक्षा से आगे नहीं पढ़ सकी।"[9]

स्त्रियों का बचपन से ही इस एहसास के साथ भरणपोषण किया जाता है कि वह तो पराया धन है जिसे बड़ा करके विदा कर देना है, तो इसे पढ़ा-लिखा कर क्या करना है। दलित समाज की स्त्रियों की यह विडम्वना है कि उन्हें समाज और घर दोनों से ही कड़ी मार झेलनी पड़ती है। सुशीला जी लिखती हैं कि - "लड़कियाँ बचपन में गुड्डा-गुड़ियों का खेल खेलती हैं। मैं अपनी गुड़िया को विदा करते समय ऊँ-ऊँ करके रोती, टीन के डिब्बे को लकड़ी के डंके से ठोंक कर बैण्ड-बाजा बजाते हुए गुड्डे वाले मेरी गुड़िया को ले जाते। ऐसे में खेल-खेल में मुझे भी गुड़ियों के ब्याह के बाद खालीपन का एहसास होता था। बचपन से देखे सामाजिक व्यवहार संस्कार के रूप में हमारे व्यवहार में रहते थे।"[10] यह मानसिकता समाज में पितृसत्ता द्वारा स्थापित की गई है। ताकि स्त्रियाँ स्वयं को शुरूआत से ही असहाय सा महसूस करें - "गाँव के बड़े बुजुर्ग अक्सर यही कहते थे- "लड़किएँ तो चिरैया हैं, समय आते ही उड़कर परदेस जायेंगी।" लड़कियां उनकी ससुराल की अमानत हैं, पाल-पोस के उन्हें लौटा देंगे। लड़किएँ चूल्हे का लूगड़ा (जलती लकड़ी) हैं। जहाँ का लूगड़ा वहीं जले तो अच्छा है। यह सामाजिक मानसिकता एक शिकंजा बनकर लड़कियों की प्रगति में अवरोधक रही है। इस शिकंजे की शिकार मैं भी थी। कहीं परोक्ष और कही प्रत्यक्ष रूप से इस शिकंजे ने आगे बढ़ने से रोका। उस समय का अवरोध आज दर्द बनकर मुझे सालता है।"[11]

लड़कियों का बाल-विवाह करके घर में रखा जाता है। इस सोच के साथ कि वह एक दिन अपने वास्तविक घर ससुराल चली जायेंगी,यहाँ बस मेहमान के रूप में कुछ वर्ष के लिए रखना है। कौसल्या जी अपनी आजी के बारे में बताते हुए लिखती हैं कि- "आजी छोटी थी इसलिए ससुराल में नहीं रही। कभी कोई बड़ी पूजा या शादी वगैरह हो। ससुराल में तभी उन्हें ले

जाया जाता था और कार्यक्रम खत्म होते ही वह वापस मायके आ जाती थी। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में गौना होने के बाद वह हमेशा के लिए ससुराल जाने वाली थी। उस वक्त ऐसा ही रिवाज़ था।"[12] स्त्रियाँ मानव समाज में ऐतिहासिक रूप से शोषित रही हैं। वे सांसारिक जगत में स्वयं को इस तरह से भूल गई है कि अब उसकी अपनी पहचान और अस्तित्व ही खतरे में आ चुका है। स्त्री समाज में एक ऐसी प्राणी है जो हर वर्ग में शामिल है पर उनका अपना ही एक वर्ग बन कर रह गया है। वह अपने अधिकार और हक के लिए दूसरों पर निर्भर है। कौसल्या जी लिखती हैं कि - "आजी के पति खेत के काम से फारिग होकर दोपहर का खाना खाने के बाद एक आम के पेड़ के नीचे सुस्ताने को लेटे और उनकी थोड़ी देर में आँख लग गई। ठीक उसी वक्त एक जहरीले साँप ने उन्हें डस लिया। गाँव में कोई डॉक्टर नहीं था। झाड़-फूंक करने वाले ओझा को बुलाया गया। परन्तु कुछ फायदा नहीं हुआ और वे चल बसे। थोड़ी देर बाद आजी और उनके पति के शव को हल्दी लगाई गई। आजी के माथे पर और शव के माथे पर बड़ा सा कुंकुम का टीका लगाया गया। आजी को नथ पहनाई गई, पाँव में जोड़वे (बिछुए) गले में मंगलसूत्र था ही। ये सब सुहागिनों के सौभाग्य के चिह्न थे। इसका मतलब यह था कि आखिरी मौका है इन्हें पहनने का। बाद में वह नहीं पहन सकेगी क्योंकि आजी अब विधवा कहलाएगी।"[13] बाल विवाह और उस से पैदा होने वाली समस्याओं से प्रभावित एक स्त्री के जीवन की ऐसी विभीषिका दलित समाज के जीवन का अंग बन गई थी।

पुरुषों के लिए एक से अधिक विवाह करने की छूट है। वह चाहे जो भी करे उनको हमेशा सही ही समझा जाता है। किन्तु अगर कोई विधवा विवाह करना चाहे तो दूसरी पत्नी के रूप में ही उसे जाना पड़ता है। घर में परिवार वाले बेटी को रखना नहीं चाहते क्योंकि वह तो

बोझ समझी जाती है और बोझ का भार जीवन भर नहीं ढोया जाता है। कौसल्या जी लिखती हैं - "वे कोई बहुत बड़े जमींदार नहीं थे। परन्तु उस गाँव में और आस-पास के दस-बारह गाँवों के अछूतों से उनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी। और खास करके महार जाति में वे पैसे वाले समझे जाते थे। वैसे एक दो औरतों से शादी करना उस वक्त कोई बुरा नहीं मानता था। यह आम बात थी। पैसे वाले तो इसे अपनी शान समझते थे।"[14] स्त्रियों के लिए ऊँची छलाँग लगाना कोई आसान कार्य नहीं है। सुशीला जी अपने समाज के इस बंधन को प्रताड़ना मानती हैं, किन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है सब सहते हुए भी इससे बाहर नहीं निकल पाता। किसी पिंजरे में कैद पक्षी की तरह यह असहनीय पीड़ा मन-ही-मन सहती रहती है। सुशीला जी लिखती हैं - "कभी लगता मैंने अपने जीवन को पूर्ण रूप में नहीं जीया। जिदंगी की गहराई में गहरी पैठ तो लगाई है मगर मुझमें ऊँची छलाँग लगाने का मनोबल नहीं जागा, न ही मैंने ऐसा हौंसला किया। इसका कारण है, बहुत ठोस और सबल कारण है। मध्यप्रदेश की वर्ण-जातिभेद मानसिकता और सामाजिक व्यवहार के बीच जन्मी पली-बढ़ी एक अछूत जाति की लड़की में कितना मनोबल हो सकता था? हर बात के लिए बन्धन, अपमान, अंकुश।"[15]

एक दलित स्त्री के रूप में सामाजिक जीवन जीना वैसे ही है जैसे किसी मछली का ऐसे पानी में रहना जो जहरीली हो। वह पानी में रहेगी तो भी मरेगी बाहर निकली तो भी बच नहीं पायेगी। ऐसा नहीं है कि जाति और वर्णभेद भारत के कुछ ही हिस्सों में ही है, बल्कि अन्य हिस्सों में भी वैसे ही प्रसारित है । परन्तु समाज के दलित वर्ग ही यह सब सहते हुए मौन साधे हुए हैं। 'मत्स्यगंधा' असम प्रांत का एक ऐसा उपन्यास है जिसमें दलित स्त्रियाँ अपने सामाजिक उत्पीड़न को भुलाने हेतु नशे की आदी हो जाती हैं - "मेनका को अपनी पीड़ा को दूर करने की लालसा में

नशे की आदी होते, अपने गम को भुलाने की चाह में नशे के अंधेरे में खोते हुए दिखाया गया है। यहाँ बहुत अंधकार है जहाँ रह कर संसार को पूर्ण रूप से भूल जाना चाहती है। क्योंकि उसकी जीने की कोई वजह ही नहीं रह गई है। मेनका घंटो गालियाँ देकर वह सांसारिक पीड़ा भूल जाती है।"[16]

अनुसूचित जाति की महिला होने के कारण वे हर तरफ से दर्द झेलती हैं उन्हें न अपने समाज में सम्मान दिया जाता है न ही सवर्णों के समाज द्वारा सम्मान मिल पाता है। कल्याणकारी कार्यक्रम में भी उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है - "जाति व्यवस्था के संदर्भ में भी जो कल्याणकारी कार्यक्रम और योजनाएँ अनुसूचित जातियों के हितार्थ निर्मित की गई उसमें इन महिलाओं को कोई अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया गया और न ही महिला कल्याण के नाम पर बनाई गई विभिन्न योजनाओं में ही अनुसूचित जाति की महिलाओं के विशेष हित पर ध्यान दिया गया। फलतः स्वतंत्रता के 50 वर्षों के बाद भी और महिला कल्याण व अनुसूचित जातियों के कल्याण के विशेष प्रयासों के पश्चात भी अनुसूचित जाति की महिलाओं की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है।"[17]

कौसल्या बैसंत्री जी की आजी को उनके पति द्वारा इतना सताया गया कि वह असहनीय बन गया और उन्होंने अपने बच्चों सहित घर छोड़ने का निर्णय ले लिया था। एक माँ ही क्या अपने बच्चों की जिम्मेदारी लेने का हक रखती है। क्या उनके पिता का कोई कत्तर्व्य नहीं होता है? लेखिका लिखती हैं - "सरस्वती से चला नहीं जा रहा था। इसलिए कभी श्रावण, कभी आजी उसे अपने कंधों पर उठाती थी। थोड़ी देर के बाद सरस्वती को कै होने लगी बुखार भी

बहुत तेज हो जाने से उसकी हालत बहुत खराब हो गई और उसने थोड़ी देर में दम तोड़ दिया।"[18] स्त्रियाँ समाज की कठोरता के कारण ऐसा जीवन यापन करने को मज़बूर हैं।

शिक्षा जो सभी का मानवाधिकार है। उस अधिकार को पाने मात्र के लिए दलितों को कितना संघर्ष करना पड़ता है। शिक्षा के स्थान विद्यालय को देवी का मंदिर माना जाता है। जहाँ किसी के साथ भी कोई भी भेदभाव न करके एक समान ज्ञान दिया जाये। किन्तु जातिवादी सामाजिक व्यवस्था के कारण यहाँ भी उनको प्रताड़ित ही किया गया है। सुशीला जी शिकंजे का दर्द में लिखती हैं कि - "कक्षा में ब्राह्मण, बनियों के बच्चों को सबको आगे बैठाया जाता था। पिछड़ी जाति के बच्चे पीछे अलग बैठते थे। कक्षा में यह श्रेणी वर्गीकरण जैसा था। इससे हमें अपने वर्ण और जाति का आभास हमेशा रहता था। मैं कक्षा में सबसे पीछे बैठती थी। स्कूल के सभी शिक्षक और सभी बच्चे मेरी जाति के विषय में जानते थे। सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी।"[19] वे लेखिका आगे लिखती हैं - "मैं देखती थी सवर्ण घरों में स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिड़क दिया जाता था और पहने हुए कपड़े उतरवाकर उन्हें दूसरे कपड़े पहनने के लिए दिए जाते थे। हमारे ही सामने वे नाक-भौं सिकोड़कर नफरत से कहते थे - "न जाने कौन-कौन सी जात के बच्चों के साथ बैठकर पढ़कर आते हैं। सबकी छुआछूत घर में लाते हैं।"[20] ऐसी उपेक्षा के कारण समाज में मानवीय गुण खत्म होते जा रहे हैं। एक ही समाज के लोग अपने ही लोगों को दुश्मन समझने लगे हैं। लेखिका बताती है कि - "शिक्षकों की उपेक्षा और अपमान से मेरा मन दुखी हो जाता था। स्कूल के शिक्षक गाँव के सवर्ण हिन्दू महाजनों का बहुत सम्मान करते थे, उसी प्रकार उनके बच्चों को भी मान-सम्मान देते। अछूत बच्चे उपेक्षा के पात्र रहते। सवर्ण सम्पन्न घरों के बच्चों को सजा से छुटकारा तुरंत मिल जाता था। गरीब, पिछड़े, अछूत बच्चे घण्टों

सजा भोगते, मानो गुरूजी उन्हें सजा देकर भूल गये हों। बच्चे रोने लगते तब जैसे गुरूजी को याद आता और वे कहते - "अच्छा, अच्छा,.....ठीक है, ठीक है.....बैठ जाओ।" मेरी सजा ऐसी ही लम्बी होती थी। गाँव में छुआछूत-जातिभेद की भावना बहुत थी, स्कूल में भी थी।"[21] इसी तरह की पीड़ा का अनुभव कौसल्या जी द्वारा भी भोगा गया था। जिसके कारण स्कूल में वे अपनी जाति छिपाने लगी ताकि उसे सम्मान मिल पाये।

जाति व्यवस्था तो सवर्णों द्वारा स्थापित किया गया तंत्र है। ताकि उन्हें समाज में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त हो। परन्तु यहाँ तो यह देखा गया है कि दलित समाज के बीच भी वर्णभेद, जातिभेद उसी तरह मौजूद है जैसा सवर्णों में। अर्थात दलितों में भी जाति आधारित सामाजिक पदानुक्रम देखने को मिलता है। दलितों में उच्च दलित और निम्न दलित की अवधारणा फैली हुई है। दलितों में जाति मजबूत होने का एक प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है। कौसल्या जी अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में वर्णभेद के इसी कड़वे अनुभव के बारे में लिखती हैं कि - "मैं अस्पृश्य हूँ इसका मुझे बहुत दुख होता था और मैं हीनता महसूस करती थी, कोई मुझे जाति न पूछ बैठे इसका मुझे सदैव डर रहता था। इसलिए मैं अकेली चुप-चाप खाने की छुट्टी में या स्कूल शुरू होने के पहले एक ओर बैठी रहती थी। लड़कियों के साथ खेलने में भी डर लगता था। मैं दूर अलग बैठकर उनका खेल देखती थी। कुनबी लड़कियों में भी थोड़ी हीनता की भावना थी। वे भी ब्राह्मणों की लड़कियों में ज्यादा घुलती-मिलती नहीं थी। एक बार जिसका मुझे ज्यादा डर था वही बात हो गई। कुनबी लड़कियों ने मुझसे पूछा कि मेरी जाति क्या है? मैंने डर के मारे कह दिया कि मैं भी कुनबी जाति की हूँ। उन्होंने पूछा कि तिलेल हो या खैरे? मुझे उनके उपजाति के नामों का पता चला। मैं मन में सटपटा गई थी, परन्तु उन्हीं की बात सुनकर मैंने कहा कि मैं

तिलेले कुनबी हूँ। मेरी जाति का पता सिर्फ हमारी शिक्षकों को ही था क्योंकि प्रवेश लेते वक्त फार्म पर लिखना पड़ता था।"[22]

ऐसे बहुत से शिक्षित और समाज में ऊँचे स्थान पर विद्यमान लोग भी कई बार अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए समाज में अपनी वास्तविक जाति छिपाते हैं। सुशीला जी बताती हैं कि - "जहाँ हमारे लोग खुद को वाल्मीकि कहकर वाल्मीकि पर गर्व करते हैं, वहीं अन्य दलित हम लोगों से ऊँचे दलित होने का गर्व करते हैं। 2005 की बात है, मुम्बई के खेल मैदान में बामसेफ के चार दिवसीय सम्मेलन कार्यक्रम में मैं गई थी, वहाँ राजस्थान से कुसुम मेघवाल भी आई थी। आपस में बातें करते हुए मैंने कुसुम मेघवाल से कहा - "मुम्बई में हमारी जाति के कई लोगों के सरनेम मेघवाल हैं। मेघवाल सरनेम वाल्मीकि में रहता है।" यह सुनकर मेघवाल मैडम ने कहा - "नहीं, मेघवाल सरनेम हमारी कास्ट में रहता है। हम वाल्मीकि नहीं हैं। वाल्मीकि मेघवाल अलग होते होंगे, हम अलग मेघवाल हैं।" उन्हें सरनेम के आधार पर स्वयं के लिए वाल्मीकि सुनना भी पसंद नहीं था।"[23]

दलितों में भी बड़ा मतभेद है, कुछ प्रान्तों के दलितों को यह स्पष्ट समझ में आता है कि हम कौन हैं और हमें अपनी अधिकार की लड़ाई कैसी लड़नी है। जबकि अन्य प्रान्तों में कुछ ऐसे दलित वर्ग भी हैं, जो इन सबसे बेखबर हैं। उन्हें यह तक समझ नहीं आता कि उनका शोषण हो रहा है इसका प्रतिरोध करना चाहिए। वे अपनी पुरानी रूढिवादी सोच से हटकर कुछ करना ही नहीं चाहते हैं। सुशीला जी लिखती हैं कि - "महाराष्ट्र में हरिजन शब्द का बहिष्कार किया गया। मगर मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान जैसे पिछड़े प्रदेशों में अभी भी हमारी जाति समुदाय के डोम-डुमार, मुखियार, धानुक, मेघवाल, माला, हेला, हलालखोर, रूखी, भंगी,

वाल्मीकि जाति के लोगों को हरिजन कहते हैं। यह सुनकर बुरा लगता है। एक दिन मैं महाविद्यालय के ऑफिस में थी। एक छात्रा अपना सर्टिफिकेट जोशी जी को दिखा रही थी। मैंने टेबल पर रखा उसका सर्टिफिकेट उठाकर देखा, उसमें जाति के कॉलम में हरिजन लिखा था। मैंने उस लड़की से कहा - "हरिजन कोई जाति का नाम नहीं है।"

वह लड़की बिहार प्रान्त के किसी गाँव से आई थी। उसने कहा - "हमारे गाँव में हमारी जाति के लोग अपने लिए हरिजन ही लिखते हैं।" हरिजन नाम अभी भी चल रहा है। यह तब तक चलेगा जब तक मिटाया नहीं जायेगा। इसी तरह दलित कहलाना भी खुशी की बात नहीं है। दबे, कुचले, टूटे, बिखरे रूप में अपनी परिभाषा और पहचान बताना दुखदायी है। प्रगतिशील पहचान बनने के बाद पुरानी पहचान से मुक्ति पाना होगा। इसके प्रयत्न महाराष्ट्र में अम्बेडकरवादियों ने शुरू कर दिये हैं। गाँधीजी द्वारा लिखित 'वर्णव्यवस्था' पुस्तक से प्रमाण सहित स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म की वर्णवादी, जातिवादी समाज व्यवस्था ही वर्णव्यवस्था है, जिसे गाँधी जी उत्तम मानते थे। जातिव्यवस्था बनी रहे, वे यह चाहते थे। उनके आदेशों पर हमारे लोग आँख, कान, नाक, मुँह बंद करके चलते हैं। मैंने देखा है, अधिकांश गाँव और शहरों में नगर निगम, नगर परिषद, नगर पालिका और महानगर पालिका के कार्यालय के प्रांगण में गाँधीजी को प्रणाम करके अपने झाड़ू-टोकरे के काम में खुशी-खुशी लग जाते हैं। कामठी नगर परिषद प्रागंण में भी महात्मा गाँधी जी की मूर्ति है। सफाई कर्मचारी आपस में कहते हैं - "गाँधीजी की मेहरबानी से ही हम सुख-सुविधा और इज्जत की जिन्दगी पा सके हैं।"[24] दलित समाज के लोग कुछ जिद्दी किस्म के होते हैं। जो उन्हें सही राह दिखाते हैं। उन्हीं को अपना दुश्मन समझ लेते हैं। ऐसे अपाहिज मानसिकता के कारण ही दलित आज भी दलित ही होकर रह गये हैं। चाहे जितनी भी आरक्षण और सुविधा सरकार

द्वारा क्यों न प्राप्त कर ले उनकी मानसिकता ज्यों की त्यों ही रहेंगी। सुशीला जी अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि - "अपने जाति समुदाय के शिक्षित समझदारों के स्वभाव व्यवहार को देखते हुए, उनकी नासमझी बताते हुए ज्यादा दुख होता है। अक्टूबर 2002 में दिल्ली के वाल्मीकि जाति के नेता धर्मपाल बोहत ने विशेष आग्रह के साथ दिल्ली में 'वाल्मीकि जयन्ती' कार्यक्रम में मुझे अतिथि वक्ता के रूप में आमंत्रित किया था। मैं वहाँ कार्यक्रम का स्वरूप देखकर आश्चर्यचकित रह गई। वाल्मीकि जयन्ती का यह कार्यक्रम दिल्ली के 'काली मंदिर' क्षेत्र के वाल्मीकि मंदिर में भव्य रूप में आयोजित था। मुख्य अतिथि के रूप में शीला दीक्षित मैडम को बुलाया गया था। मैं यह नहीं समझ पाई थी, 'वाल्मीकि मार्ग' और 'वाल्मीकि पार्क', 'वाल्मीकि जाति' की समस्याओं और अपमान का निराकरण कैसे करेंगे? कार्यक्रम के बाद हाथी तब भी दरवाजें पर झूमते हुए झूल रहे थे। सवर्ण नेताओं के सामने भव्य कार्यक्रम में हाथी झुलाने से क्या इस समाज का भला हो सकता है? भूमण्डलीकरण, औद्योगीकरण और निजीकरण की नीतियों के युग में हमारे जाति समुदाय की स्थिति बहुत दयनीय है। ऐसी स्थिति में यदि हमारे लोग वाल्मीकि जयन्ती पर हाथी झुलाने को शान मानते हैं तो शर्म और चिन्ता की बात है। प्रगति और परिवर्तन की बात अपनाइए। महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मण थे, वे न तो हमारे पूर्वज हैं और ही हमारे जाति गुरू हैं। डॉ. अम्बेडकर ही हमारे नेता, शुभचितंक और मार्गदर्शक हैं, उनकी शिक्षा और विचारधारा को अपनाइए।" मेरी इन बातों को सुन-सुनकर मेरे अपने ही लोगों ने मुझे वाल्मीकि जयन्ती पर बुलाना बंद कर दिया। उन्होंने मेरी बातें नहीं समझी, न ही समझना चाहते हैं।"[25]

समाज में दलित समुदाय की स्थिति खराब और निम्न होने के कारण लोग अकसर दलित स्त्रियों का गलत फायदा उठाने की कोशिश करते हैं। ऐसे मौकापरस्त बहुत से लोग समाज

में विद्यमान हैं। जो दलित स्त्रियों की इज्जत आबरू को बाज़ारू सामान समझ लेते हैं। यह भी दलित समुदाय के दुख और उत्पीड़न का अलग ही प्रकरण है। कौसल्या जी अपनी आत्मकथा में ऐसी ही घटनाओं का वर्णन करती हुई कहती हैं कि - "भाई को बहुत बुखार हुआ था। इसलिए मैं उसे अस्पताल ले गई थी। दरबान से मुलाकात हो गई। उसने कहा कि अगर मैं एक-दो दिन बाद इसी जगह जाऊँ तो वह मुझे बड़े डॉक्टर से मिला देगा और नर्सिंग कोर्स के बारे में उन्हें बताएगा। मैं बहुत खुश हुई। मन में सोचा कितना अच्छा आदमी है। मैं तीसरे दिन उसके पास गई। उसने कहा कि डॉक्टर के घर जायेंगे क्योंकि यहाँ डॉक्टर बहुत व्यस्त रहेंगे और ठीक से बात नहीं हो पायेगी। मैं उसके साथ डॉक्टर के घर जाने को निकली। वह मुझे हंसापुरी नाम की जगह की ओर ले जा रहा था। उस इलाके में छोटे-मोटे व्यवसायी थे। वहाँ अच्छे लोग नहीं रहते थे। मुझे आश्चर्य होने लगा कि इतना बड़ा डॉक्टर ऐसी जगह पर क्यों रहेगा। जहाँ अनपढ़ तेली, तंबोली, धोबी, मुसलमान मछुआरे वगैरह रहते थे। मैंने उसे पूछा भी। वह बोला वे बहुत पुराने समय से वहाँ रह रहे हैं। उनकी बहुत बड़ी कोठी है। मैं उसके पीछे-पीछे जा रही थी। वह मुझे एक गली में एक घर में ले गया। घर ऊपर की मंजिल में था। इससे पहले मैं इस इलाके में कभी नहीं आई थी घर के अंदर घुसने पर वहाँ न कोई डॉक्टर था, न डॉक्टर का परिवार। दरबान 'बीड़ी लेने जाता हूँ' कहकर बाहर चला गया। उसने जाने का दरवाजा बंद कर दिया। मैं मन में डर गई कि बात कुछ ओर ही है। मैं वहाँ कमरे में एक कुर्सी में बैठ गई। दो मिनट बाद एक पचास वर्ष का आदमी हँसते-हँसते बाहर आया। उसने मुझसे नाम पूछा। क्या पढ़ती हो, यह भी पूछा। एक गिलास में शरबत और कुछ खाने को रखा। मैं प्यासी थी शरबत पिया, कुछ खाया नहीं। मेरी कच्ची उम्र देखकर वह कुछ सहम गया था। फिर भी उसने एक कागज़ पर कुछ लिखकर मेरे सामने रखा।

उसमें लिखा था कि मैं तुमसे प्यार करना चाहता हूँ। उसके घर में घुसते ही मुझे कुछ कल्पना तो आई थी। पता नहीं, मुझमें कहाँ से हिम्मत आई। मैंने उससे कहा कि आज मुझे बहुत पढ़ना है, कल मेरी परीक्षा है। उसके बाद आऊँगी, और मैं उठ खड़ी हुई। उसने कोई छेड़छाड़ नहीं की। वह सिर्फ विचित्र ढंग से मेरी ओर देख रहा था और मुस्करा रहा था। मेरा शरीर अंदर-ही-अंदर काँप रहा था। मैं जाने के लिए दरवाजे के पास गई। वहाँ सीढ़ी पर दरबान बैठा था। मैं चुपचाप जल्दी-जल्दी अपने कदम घर की ओर बढ़ा रही थी। दरबान मेरे पीछे-पीछे 'क्या हुआ', 'क्या हुआ' कहता आ रहा था। मैंने उससे कोई बात नहीं की। अस्पताल आते ही वह वहाँ घुस गया। मैं घर पहुँची मेरी बड़ी बहन (जनाबाई) बच्चों के साथ घर आई थी हमें मिलने। उनको देखते ही मुझे रोना आ गया। मैं रोने लगी और रोते हुए सारी बात बताई। बहन ने यह बात जीजाजी को बताई। उन्हें बहुत गुस्सा आया। वे इस ताक में थे कि कब उस दरबान की पिटाई करे।"[26] ऐसे घिनौने समाज में कोई स्त्री कैसे सुरक्षित रहे।

कौसल्या जी दलित समाज की संकीर्णता के बारे में बताते हुए कहती हैं कि अगर शादी से पहले लड़का और लड़की किसी भी कारण से नाम भी ले ले तो वह भी गुनाह मान लिया जाता था। यहाँ तक कि शादी भी टूट जाती है। लेखिका बताती हैं कि - "खाता-पीता परिवार था। लड़का चार कक्षा तक पढ़ा था। उस लड़के का यही अपराध था आजोबा की नज़रों में कि उसने पत्र के पते पर माँ का नाम लिखा कि 'पत्र भागीरथी को मिले'। आजोबा को जब इसका पता चला तो उनको बहुत गुस्सा आया कि शादी से पहले लड़की को क्यों पत्र लिखा, मानो उसने माँ को प्रेम-पत्र लिखा हो। आजोबा ने इसी बात को लेकर माँ का रिश्ता उसके साथ खत्म कर दिया।"[27]

समाज में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं हैं जिनकी कथनी और करनी में ज़मीन-आसमान का फर्क होता है। वे अपने चेहरे पर हमेशा मुखौटा पहने रहते हैं। प्रेम का वादा करके और मन में एक तरह की उम्मीद जगाना और जब जाति का पता चले तो पीछे हट जाना आम बात है। कौसल्या जी को अपने दलित होने के कारण ऐसी असहनीय और अपमानजनक पीड़ा से कई बार होकर गुजरना पड़ा। वे लिखती हैं कि - "मिलना - जुलना भी पसंद करते थे और डरते भी थे कि बदनामी न हो। इसलिए लड़कियाँ सामाजिक काम में आगे आने से कतराती थी। अतंर-जातीय या अतंर-उपजाती शादियाँ करने से भी डरते थे। उपजाति में एक-दो विवाह हुए थे लेकिन वे माँ-बाप की मर्जी से नहीं हुए थे, प्रेम-विवाह थे। उपजाति में विवाह नहीं होने से पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों को उचित साथी ढूँढ़नें में बड़ी कठिनाई होती थी। मैं उसे बहुत पसंद करती थी और वह भी मुझे चाहता था। माँ-बाबा को हमारी शादी में कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु शादी उसने अपनी उपजाति में की। क्योंकि उसकी उपजाति और हमारी एक नहीं थी।"[28] ऐसी और एक पीड़ादायक घटना लेखिका के साथ कॉलेज में पढ़ते समय घटित हुई। वे बताती हैं कि - "मैंने भी एक दिन उसे कहा: "तुम भी मेरे घर चाय पीने चलो।" वह तैयार हो गया, मैं उसके साथ बस्ती में घुसी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि मैं इस बस्ती से आती हूँ। उसे इसकी जरा भी कल्पना नहीं थी। वह एकदम गंभीर हो गया। मैं उसके साथ अपनी घर पहुँची। माँ-बाबा से परिचय कराया। वह सिर्फ पाँच मिनट बैठा और जाने लगा। माँ-बाबा ने चाय पीने के लिए बहुत आग्रह किया परन्तु उसने बहाना लगाया कि वह कहीं जरूरी काम से जा रहा है और उसे देर हो जाएगी। वह उठकर चला गया। अब वह कॉलेज मे दिखता तो आँखें चुराता था। मुझे टालता था, क्योंकि वह कभी समाज-सुधार की बातें किया करता था। बस्ती में घुसते ही उसे मेरी जाति का

पता चल गया था।"[29] इस तरह की मानसिकता से संस्कृति की आड़ में लोगों के जीवन खिलवाड़ होते रहे हैं। ऐसे में कोई समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता है। वह समय के साथ और भी खोखला और बीमार होता जाएगा।

समाज में परिवर्तन लाने की चेष्टा भी करें तो समाज के अपने ही लोग इसका विरोध करने लगते है। यदि घर में ही चोर बैठा हो तो बाहर चोर की तलाश करने का कोई मतलब नहीं बनता है। सुशीला जी के इन कथनों से यह स्पष्ट होता है - "समाज के सभी लोग एक जैसे नहीं रहते। अधिकतर लोग धर्मभीरु, पुराणपंथी, और परम्परावादी हैं। नागपुर की हमारी जाति की एक परिचित महिला ने एक बार मुझे पूछा था - "तुमको अपनी जाति में अच्छा जमाई नहीं मिला, अब क्या बहू भी दूसरी जाति के लाओगे?" तब मैंने उसे आश्चर्य के साथ देखा था और तीखे अंदाज़ में कहा था - "पढ़े-लिखे समझदार लोग ऐसी बातें नहीं करते।" तब वह महिला चुप रह गई थी। मेरा आशय था, आज के युग में जात-पात देखना मूर्खता है। अन्तर्जातीय विवाह करने से ही जातियाँ टूटेंगी, जातिभेद मिटेगा। समाज परिवर्तन की प्रगतिशील विचार धारा को लोग धीरे-धीरे समझेंगे। कुछ लोग समझ भी रहे हैं मगर कूपमंडूक लोग केकड़ों की तरह एक- दूसरें की टाँग पकड़कर पीछे खींचने की कोशिश करते हैं।"[30] आपस में ही ईर्ष्या, जलन और कुंठित विचारधारा पाले रहते हैं। लेखिका ने इसका अफसोस जताते हुए अपनी आत्मकथा में ऐसे ही एक घटना का वर्णन किया है। वे लिखती हैं कि - "अपने लोग भी कभी ऐसा काम और व्यवहार करते हैं कि समझ नहीं आता। इन्हें अपना कहे या दुश्मन? गुस्सा भी आता है और अफसोस भी होता है कि वे प्रगति के विरुद्ध अधोगति के जाल में फँसे हैं। गोपाल नगर में हमारे जाति समुदाय के सुदर्शन डुमोर जाति का व्यक्ति कचरागाड़ी के साथ प्रत्येक घर के सामने रुककर गाड़ी का टीन

ठोंकता था। घर के लोग पोलिथिन बैग या डब्बे-बाल्टी में इकट्ठा किया कचरा गाड़ी में डाल देते थे। गाड़ी वाला हमारी जाति के बारे में जानता था। हम क्या नौकरी करते हैं, यह भी जानता था। मैं हमेशा देखती थी, हमारे घर के सामने आते ही वह कचरागाड़ी तेजी से आगे बढ़ा देता। पुकारने पर भी नहीं रुकता। हमारे कचरा डालने के समय भुनभुनाते हुए कहता - "इतना कचरा रखते है?" लेकिन मैं यह भी देखती थी, वह हमारे पड़ोसी महाराष्ट्रियन ब्राह्मण मोरणे के घर के सामने कचरागाड़ी रोक देता हैं और जोर से पुकार कर कहता हैं - "बाबूजी कचरा डाल दो।" साथ ही उनके घर के सामने देर तक गाड़ी का टीन बजाते हुए खड़ा रहता। गाड़ी की इतनी आवाज़ और पुकार को सुनकर वे हँसते मुस्कराते मृदुल आवाज़ में कहते हाँ भाई, आ रहा हूँ.....आ रहा हूँ....." तब हमारा सुदर्शन भाई बड़े श्रद्धा भाव से ब्राह्मण के घर का कचरा अपनी गाड़ी में सहेज लेता। यह सब देखकर मुझे समझ नहीं आता था, हमारे घर के कचरे से उसे इतनी पीड़ा और बेचैनी क्यों होती है? जबकि ब्राह्मण के घर का कचरा उसे पूजनीय और वन्दनीय लगता है। शायद इसके पीछे सदियों पुरानी बनाई मानसिकता काम करती है - ब्राह्मण पूजनीय होता है, उसका सब कुछ पूजनीय होता है, मलमूत्र भी पूजनीय, कचरा भी पूजनीय। शूद्रों, अन्त्यजों का काम और कर्तव्य है उनकी सेवा का कार्य श्रद्धाभाव से करते रहें। अभी भी ऐसी भावना, अभी भी ऐसी मानसिकता? यह देखकर दुख होता था। अपने ऐसे लोगों को समझना कठिन नहीं है। ब्राह्मणवाद के प्रति श्रद्धा और निष्ठा के शिकंजे से मुक्त होकर ही, वे अपने अपमान को समझकर सम्मान पाने की बात सोच सकेंगे।"[31]

दलित समाज में बहुत सी समस्याएँ हैं। एक तरफ तो वे ब्राह्मणवाद के शिकंजे में जकड़े हुए हैं और दूसरी तरफ इन्हें खुद को नहीं समझ आता कि आखिर इन्हें चाहिए क्या? इसके

लिए उन्हें पहले झूठे आडम्बरों से स्वयं को मुक्त करना होगा। जगजीवन राम ने अपनी यह बात कुछ इस तरह बताई है - "ऐसा लगता है कि योरप में विभिन्न प्रदेशों की शक्तिशाली सरकारों ने समाज में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया कि उसे कबीलों पर आधारित न रहने देकर क्षेत्रों पर आधारित बना दिया। राष्ट्रीय या मतवादी धर्म की व्यवस्था लागू होने के बाद कबीलों के परस्पर धर्म को संबल दिया और हिन्दू जाति को छिन्न-भिन्न होने से बचाया। इन सुधार आंदोलनों के बावजूद बहुत से शूद्र या अछूत सिख धर्म, इस्लाम या ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुए परन्तु सिख या ईसाई बन जाने पर भी जाति का कलंक उनके माथे पर लगा ही रहा और आज भी भारत में अछूत सिख और अछूत ईसाई देखने को मिलते हैं। यह विलक्षण घटना इस बात का प्रतीक है कि जनता के मन में जातिवाद की छाप कितनी गहरी है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस्लाम और ईसाई धरम पर हिन्दू समाज की व्यवस्था का प्रभाव कम नहीं था। जो लोग यह कहते हैं कि इस व्यवस्था विशेष के कारण ही हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्म का दबाव सहन कर पाये और उन्होंने अपने धर्म की रक्षा की तथा समाज को विघटन से बचा सके, वे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य भूल जाते हैं। वह यह है कि यही विशेषता हिन्दू समाज की दुर्बलता भी है जिसके कारण उसकी सफलता सीमित रही है। भारत में जो कुछ भी हुआ, जो भी सफलता मिली उसका श्रेय केवल ऊँची जाति को ही जाता है। छोटी जातियों के लोगों से समाज की प्रगति के लिए काम लिया गया परन्तु उन्हें इतिहास निर्माण में साझीदार नहीं बनाया गया। उन्हें इतिहास की सीमाओं से, उसकी परिधि से बाहर ही रखा गया। राष्ट्र निर्माण की भूमिका की परिधि में वे कभी नहीं आए।"[32] धर्म बदल लेने से या इससे मुँह मोड़ लेने से समस्यायें समाप्त नहीं हो जायेंगी।

दलितों में एकता और आपसी समझदारी और अन्याय के खिलाफ विद्रोह करने से ही स्थिति बदल सकती है।

ख) <u>पारिवारिक जीवन</u> : दलित समाज की पारिवारिक स्थिति आम सवर्ण परिवारों और उच्चवर्गीय परिवारों से बिल्कुल विपरीत होती है। उनको एक वक्त का खाना पाने के लिए पूरे परिवार को दूसरों के वहाँ दिन भर काम करना पड़ता है। उसके बाद भी भोजन के रूप में उन्हें मिलता है 'जूठन'। सुशीला जी ने अपने परिवार की दशा कुछ इस तरह बताई है - "नाना और नानी मिलकर गाँव का काम संभालते थे। गाँव से मिली जूठन, रोटी, अनाज और उतरन के कपड़ों से उनका जीवन चलता था। नानी दुख और कष्ट उठाते हुए पहले निजी रूप में गाँव का काम करती थी। नानी के सात-आठ संतानें हुई मगर पन्ना और तुलसा दो बेटियाँ ही बची।"[33]

गरीबी और अभावों में बच्चों की अकाल मृत्यु होना साधारण बात थी। ऐसे में बच्चों का विकास भी सही रूप से नहीं हो पाता है। साथ ही बच्चों को प्यार भी नहीं मिल पाता है। सुशीला जी ने अपने बचपन के बारे में कुछ यूँ बताया है, खाने का अभाव होते हुए भी पशुओं के बच्चे सा हर साल माँ की गोद में एक नया बच्चा होता जिससे कुपोषण का खतरा भी रहता । लेखिका लिखती हैं - "गरीबी और अभाव में बच्चों की अकाल मृत्यु आम बात थी। मुझसे पहले जुड़वा बहनें पैदा हुई थी जो अपनी कमजोरी और माँ को दूध न आने के कारण नहीं बच सकीं। जब हम भूख से रोते माँ, नानी हमें काली चाय के साथ रोटी खिला देती थी। कभी प्यार से, कभी गुस्से से थपककर सुला देती थी। इसी तरह खाते, खेलते, रोते हम बड़े होते रहे।"[34] अपना और अपने परिवार के पेट की चिन्ता ही इतनी रहती थी कि बच्चा कब पैदा हुआ, उसके विकास और

परवरिश से जैसे किसी को कोई मतलब नहीं था। दोहरा अभिशाप में कौसल्या जी लिखती हैं कि - "पाँच साल के बच्चे के हवाले भी माँ-बाप छोटे बच्चे को पालने में डालकर चले जाते थे। पाँच साल का बच्चा, बच्चा सो जाता तो खेलने चला जाता। कभी उसे नींद आ जाती तो जमीन पर लुड़ककर सो जाता। पालने में बच्चा रोता रहता फिर सो जाता। पास में माँ काम कर रही होती तो दौड़ी-दौड़ी आती और जल्दी से अपना दूध पिलाकर चली जाती थी। बच्चा ज्यादा देर तक सोता रहे इसलिए उसे अफीम खिलाकर सुलाते थे। बस्ती में छोटे बच्चों की मृत्यु ज्यादा होती थी। बीमारी की हालत में भी माँ-बाप उसे घर में किसी बड़े व्यक्ति जैसे सास और ससुर के भरोसे छोड़कर जाते थे क्योंकि काम पर न जाने से उन्हें पैसे नहीं मिलते और खाने के लाले पड़ते थे।"[35]

ऐसी समस्या सिर्फ एक-दो परिवार की नहीं थी, बल्कि पूरा दलित समाज ही इन परिस्थितियों का सामना कर रहा था। सुशीला जी कहती हैं - "बचपन में माँ मेरी चार चोटी बनाती थी। कान के ऊपर की दो चोटी को नीचे दो चोटी के साथ गूँथकर ऊपर रिबन के फन्दे बाध देती। तीन-चार दिन तक बाल ऐसे ही बँधे रहते। रोज-रोज चोटी गूँथने का माँ के पास वक्त ही नहीं रहता था। मँझली बहन मेरी चोटी बनाते समय जरा भी हिलने पर धमाधम मारने लगती, फिर तो चोटी बनवाना एक तरफ रहता और मैं जमीन पर लोट लगाते हुए रोना शुरू कर देती। तब माँ हम दोनों को मारती थी। किसी भी गलती की सजा थी खाना नहीं देना। ज्यादा परेशान करने पर माँ रस्सी से हाथ-पैर बाँध देती, रोने पर ज्यादा मार पड़ती। हमारे कारण माँ परेशान रहती थी। असल में वह गरीबी और खर्च से परेशान थी।"[36] छोटा परिवार सुखी परिवार इस तरह के विचार दलित परिवारों में नहीं थे। जिस कारण उनकी आर्थिक स्थिति अधिक खराब होती थी। किन्तु सवर्णों में ऐसा नहीं था। उनके पास धन की भी कमी नहीं रहती।

साथ ही भेड़-बकरियों की तरह बच्चे भी पैदा नहीं करते थे। अशिक्षा के कारण दलितों को ऐसी परेशानियों का सामना करना पड़ता था। जिसके कारण पूरा परिवार तकलीफ झेलता था। लेखिका अपनी आत्मकथा का उद्देश्य बताते हुई लिखती हैं - "आत्मकथा लिखने का मेरा उद्देश्य समाज को उसकी सच्चाई बताना है। लोग इस सच्चाई को स्वीकार करें। इन तथ्यों को समझे, मंथन करें और भविष्य के समतावादी, मानवतावादि भारतीय समाज के निर्माण के लिए कदम उठाए।"[37]

घर परिवार का भार चलाने के लिए दलित स्त्रियों को बहुत सी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। बहुत तकलीफ, दर्द सहकर भी उन्हें कठिन परिश्रम का सही मूल नहीं मिल पाता है। सुशीला जी बताती हैं - "आर्थिक कष्टों से जूझते हुए माँ हमारे कष्टों को अनदेखा करती थी। गरीब, जरूरतमंद लोग ही खेतों में काम करने जाते थे। सवर्ण वर्ग के लोग ऐसे काम को और ऐसे काम करने वालों को छोटा मानते थे। अछूतों को सबसे निम्न मानकर उन्हें दूर से ही डाँटा फटकारा जाता। बचपन से ऐसी स्थितियों का सामना होता रहा। खेत-खलिहान में काम मिलने पर माँ मुझे और दादी को अपने साथ काम करने ले जाती थी। हम खलिहान में चने के सूखे पौधे कूटकर सूखी डालियों से चने अलग करते। पसीना बहता रहता चने की सूखी पत्तियों की खटाई से तब बहुत कष्ट होता था। हमारे इकट्ठे किये चने के हिसाब से हमें चने दिए जाते। दिनभर धूप में पसीना बहाने के बाद हमारी मेहनत की कमाई बहुत कम दी जाती। माँ कभी ज्यादा देने के लिए कहती तब मालिक कहते - "जो हिसाब है, उसी हिसाब से देंगे। आना है तो आओ, नहीं तो मत आओ। ऐसे समय परिश्रम का कष्ट नगण्य लगता, भूख का निदान जरूरी लगता, रोटी महत्त्वपूर्ण लगती। माँ के कष्टों को कम करने के लिए अपना सहयोग देना अधिक

महत्त्वपूर्ण लगता था। भूख, प्यास से त्रस्त रहते हुए, धूप में पसीना बहाते हुए मैं खेत-खलिहानों में माँ के साथ काम करती थी।"[38] सुशीला जी को अपने पति के परिवार वालों द्वारा बहुत कष्ट और संताप सहने पड़े। बाहरी लोगों से लड़ा जा सकता है, किन्तु जब अपने ही दुश्मन हो तो जीवन और अधिक संघर्षपूर्ण बन जाता है। लेखिका कहती हैं - "चैत्र दशहरे की बात है चाचा ससुर की दो बेटियाँ कमला और रमला हमारे घर आई। चाय-नाश्ता, खाना हुआ। दोनों बहनें भाई के साथ बातें कर रही थी। मैं उनसे दूर बैठी थी। अचानक रमलाबाई धीरे से चीखी जैसे उसके शरीर में देवी आ रही हो। उसे देखकर कमलाबाई भी झूमने लगी। टाकभौरे जी उन्हें देख रहे थे। मैं उन पर ध्यान नहीं दे रही थी। तभी रमलाबाई ने ऊँची आवाज़ में पुकार कर कहा - "ऐ शीला, तू जानती, हम कौन हैं? हमारी सेवा कर तेरा भला होगा।" कमलाभाई मुझे समझाकर कहने लगी - "हमारे नाम का (दुर्गा, काली देवी के नाम का) दीपक रोज जलाना, पानी से भरे कलश के ऊपर नारियल रखकर पूजा की जगह रखना। हमारी सेवा करने से तेरा भला होगा।" मैं चुपचाप उन्हें देखती रही। उस समय मेरे मन में उनके प्रति न तो भक्ति थी, न ही भय था। मुझे लग रहा था, ये सब स्वाँग, नाटक चल रहा है। मुझे चुप देखकर रमलाबाई गुस्से से बोली - "ऐ...क्या कह रहे है तेरे से? समझी नहीं? चल, माफी मांग।" मैं उनकी हरकतों को देख रही थी, उनकी बातें भी सुन रही थी। मगर जब माफी माँगने के लिए बार-बार कहा गया तो मुझे गुस्सा आने लगा। मैंने सोचा मैं क्यों माफी माँगूँ? मेरी क्या गलती है? दोनों बहनों ने गुस्से से कहा - "माफी माँग....माफी माँग।" टाकभौरे जी भी माफी माँगने के लिए कहने लगे। सबकी सुनते-सुनते अचानक मुझे बहुत जोरदार गुस्सा आ गया। मैं दोनों बहनों के पास जा कर बैठ गई और दोनों के बीच फर्श पर जोर से हथेली की थाप मारकर गुस्से के साथ बोली - "मैं क्यों माफी माँगूँ? बताओ,

मैंने क्या गलती की है? तुम सबने मुझे दिया ही क्या है? बताओ? अत्यधिक गुस्से के कारण मेरी आवाज़ भी चीख जैसी ऊँची हो गई थी। मेरी बातें, मेरी आवाज़ सुनकर और मेरे गुस्से का यह रूप देखकर दोनों बहनें कुछ सहम गई। पलभर में वे दोनों सामान्य रूप में आकर सामान्य बातें करने लगी। कमलाबाई कहने लगी - "हाँ, सच बात है, शीला भाभी अच्छी है।"[39] लड़की जब ब्याह कर लाई जाती है तो वह अपने मन में अनेकों सपने संजोये रहती है। उसे भी प्यार और अपनेपन की जरूरत होती है। लेकिन अक्सर यही देखने को मिलता है कि सास द्वारा बहुओं को सताया जाता है। परन्तु उसे कम-से-कम यह विश्वास तो रहता है कि पति द्वारा उसे प्रेम प्राप्त होगा, किन्तु सुशीला जी को सास, ननद, पति इन तीनों से ही बस तिरस्कार ही प्राप्त हुआ। वे कहती हैं कि - "घर परिवार के वातावरण में खटास ही अधिक रही। उन दिनों ससुराल में रहते हुए मैं इतनी भयभीत थी कि दाल में कितना नमक डालना है यह भी भूल गई थी। हर काम पूछ कर करती, फिर भी बातें सुनाई जाती। हर समय डाँट-फटकार और तरह-तरह की उल्टी-सीधी बातें सुनकर दिमाग पर असर होता। मैं रात भर नींद में डरते हुए बड़बड़ाती। लेखिका लिखती हैं कि - "दाल गिर रही है, ढक्कन खुला है, नल बंद हो जायेगा, पानी भरना है, अभी चाय बनाती हूँ।" दूसरे दिन हँस-हँस कर मेरी इन बातों का मजाक उड़ाया जाता, तब मन और भी दुखी हो जाता था।"[40]

जैसे अपने बेटी से प्यार करते हैं, वैसे ही बहुओं को भी प्रेम देना चाहिए, किन्तु यह बातें स्त्रियाँ नहीं समझती हैं और एक स्त्री अन्य स्त्रियों की दुश्मन बन जाती है। इसी का फायदा बाहर वाले उठाते हैं। जब परिवार में आपसी प्रेम और समझदारी न हो तो बाहर वाले आसानी से फायदा उठा सकते हैं और उन्हें तोड़ भी सकते हैं। बहुओं को गुलाम नहीं समझना चाहिए। उन्हें

शुरू से ही यही समझाया जाता है कि तुम्हारा वास्तविक घर ससुराल है, तुम यहाँ मेहमान हो बस। सुशीला जी को अपने ससुराल में बहुत ही अपमानजनक जीवन यापन करना पड़ा था। इसकी जिम्मेदार वह स्वयं भी है क्योंकि वह सब सहती हैं। लेखिका बताती हैं - "उन दिनों मुझे यह हिदायत थी, मीरा की साड़ी को साबुन लगाकर अच्छा धोना, अपनी साड़ी को फीच कर निचोड़ना। मैं वैसा ही करती थी। सबके कपड़े साबुन से धोती और ईमानदारी से घर में पहनने की अपनी साड़ी बिना साबुन के धो लेती। धीरे-धीरे साड़ी मटमैली दिखने लगी थी। सासू माँ की यह बात मुझे अजीब लगी कि साबुन, सोडे के लिए सुन्दर से कहना। मेरे कहने पर क्या वे मुझे लाकर देते? मैं चुप रही, सब वैसा ही चलता रहा। कभी-कभी मैं नाराज़गी में भी ऐसा करती थी। ताकि सबको दिखे कुछ गलत चल रहा है, मगर घर के लोग सब कुछ जानते समझते हुए भी मेरे लिए नहीं सोचते थे। उन दिनों घर में खाना-पीने पर घर में बहुत खर्च किया जाता था। रुपये उधार लेकर खर्च किया जाता, यह देखकर मेरा दिल जलता था, मुझे भी गुस्सा आने लगा, मैं भी खरी-खोटी सुना देती थी। एक ही बात इतनी तीखी कहती कि सब तिलमिलाकर रह जाते, फिर घंटों झगड़ा चलता। मुझे मार-पीटकर झगड़ा खत्म होता। अधिकतर इस तरह दिन बीतते थे। दुख, अपमान और कष्ट घर में भी थे, बाहर भी थे।"[41]

यह कितने अचरज की बात है कि इतने पढ़े-लिखे परिवारों में भी अंधविश्वास ने अपना घर बना लिया है। बीमार पड़ने पर अस्पताल जाने के बजाय बाबा, पूजा-पाठ, जादू-टोना, टोटका में विश्वास रखते हैं। सुशीला जी यह सब देखकर बहुत अफसोस करती है। परन्तु घर में उनकी सुनने वाला कोई नहीं था। सुशीला जी लिखती हैं - "चाचा ससुर के बड़े बेटे भीमसेन टाकभौरे दुर्गा और काली देवी के नाम ये पूजा करते थे। दूसरा बेटा नारायण अघोरी बाबा की

पूजा करते थे। टाकभौरे जी की तबीयत ज्यादा खराब रहती है। यह देखकर भीमसेन ने पूजा की और देवी के नाम पर जाप किया। लेकिन टाकभौरे जी की तबीयत में कुछ सुधार नहीं हुआ। कुछ खाने या चाय, दूध पानी पीने से उल्टियाँ होने लगती थी। करीब एक माह से यही हाल था। नारायण ने अघोरी बाबा के नाम से जाप किया, लौंग से लौंग जोड़कर रहस्य का पता लगाया कि बीमारी का कारण बाहर के भूत-पिशाच हैं। उन्होंने बाहर की ओर खुलने वाले दरवाजों और खिड़कियों के कोने-कोने में एक इंच लम्बी लोहे की कीले ठोक दी और हमें विश्वास दिलाया कि मैंने दानव-दैत्य सभी को बाँध दिया है। वे अब तुम्हारे घर में नहीं आ सकेंगे, अब कोई तकलीफ नहीं होगा। फिर भी टाकभौरे जी की तबीयत वैसी ही रही। मैं जानती थी, यह सब अंधविश्वास है, मेडिकल जाँच और दवाईओं से ही तबीयत ठीक हो सकेगी, मगर मेरी बात नहीं मानी गई।"[42]

शिक्षा पर सभी का समान अधिकार होता है, किन्तु दलित परिवारों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी बहुत से संघर्ष करने पड़ते हैं। सरकार द्वारा बहुत सी सुविधा और राहत मुहैया कराई जाती हैं, किन्तु फिर भी कुछ चीजों में तो पैसे खर्च करने ही पड़ते हैं। इन हालातों में दलित परिवारों के पास दो ही रास्ते रह जाते हैं या तो पढ़ाई छोड़ दिया जाए, या फिर संपत्ति के नाम पर जो कुछ भी है उसे बेच दिया जाए। कौसल्या जी लिखती हैं - "जब बड़ी भिडे कन्याशाला में पाँचवी कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा नहीं थी। एक रुपया बारह आने। परन्तु अब सब पढ़ रहे थे। घर के बच्चों की फीस देना बाबा के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। बाबा ने हमारे हेड मिस्ट्रेस से बहुत विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहुत मुश्किल से वह मान गई और कहा कि पढ़ाई अच्छी न करने पर स्कूल से निकाल देंगी। बाबा ने हेड मिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से क्योंकि वे अछूत थे स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा

का चेहरा कितना मायूस लग रहा था उस वक्त। नई कक्षा में जाने पर सब बहनों और भाई का किताब - कापियों का खर्च बढ़ जाता था। गर्मी की छुट्टियों के बाद स्कूल खुलने पर सबको किताबें खरीदनी पड़ती थी। तब माँ अपने कुछ जेवर साहूकार के पास गिरवी रखकर पैसे ले आती थी। मिल में कुछ लोग भिसी (चिटफंट) डालते थे। माँ, चिटफंट में भी पैसा माँगती थी। इन पर काफी ब्याज देना पड़ता था। परन्तु दूसरा कोई चारा भी नहीं था।"[43] दलितों के परिवार का खर्च इस तरह से चलता है। पढ़ने की लालसा में खुद को कर्ज में डूबो लेते हैं। कई माता-पिता तो हार मान लेते हैं और उनके बच्चों की पढ़ाई बीच में ही अधूरी रह जाती है। अच्छी शिक्षा प्राप्त करने और अच्छा जीवन जीने का उनका सपना सपना ही बनकर रह जाता है।

दलितों का अभिशाप भरा जीवन कौसल्या जी और उनके परिवार के लिए बड़ा ही कष्टदायक था। पहनने, ओढ़ने की कमी हमेशा उन्हें घेरे रहती थी। वहीं दूसरी ओर समृद्ध घर के बच्चे रोज-रोज कपड़े बदलकर पहनते थे। उनकी ऐसी दयनीय अवस्था के कारण उनके पिता मिल से कपड़े चुराने लगे थे। अगर कपड़े चुराते समय पकड़े जाए तो नौकरी जाने का भी खतरा रहता है, किन्तु परिवार की लाज तो बचाए ही रखनी है। इस कारण उस कमी को मज़बूरन चोरी के जरिए पूरी की जाती थी। कौसल्या जी कहती हैं - "बाबा को मिल में मशीन साफ करने के लिए कुछ नए कपड़े की पट्टियाँ मिलती थी। बाबा उनमें से अच्छी लम्बी पट्टियाँ अलग करके अपनी धोती के नीच लँगोट की तरह बाँधकर घर लाते थे। गेट पर चेकिंग होती थी परन्तु वे पता नहीं कैसे लाते थे। कभी किसी को शक नहीं हुआ। उनमें से कुछ सफेद पट्टियाँ को अलग करके हम पेटीकोट, चड्डियाँ हाथ से सीते थे। कभी बाबा भी बैठकर सी देते थे। बड़ी बहन जना बाई कपड़े काट देती थी। बहुत समय तक हम इन पट्टियों को जोड़कर बनाए पेटीकोट-ब्लाउज पहनते रहे।

कभी-कभी बहुत सुन्दर प्रिंट की पट्टियाँ बाबा लाते थे। उसी के ब्लाउज और बहन के लिए फ्राक सी कर हमने गुजारा किया था। कुछ अच्छी पट्टियाँ बाबा बड़ी बहन को भी देते थे। मिल में दो आने गज बैंडज क्लाथ मिलता था। झिरझिरा कपड़ा होता था पर सस्ता होता था। इसलिए हम उसे मिल की दुकान से खरीदकर सिर्फ काले रंग के ही प्रिंट से दुकान से छपवा कर उसकी साड़ियाँ पहनती थी। काला प्रिंट कुछ सस्ता होता था। बहन की हालत भी (आर्थिक) बहुत खस्ता थी। वह उन कपड़ों से अपने बच्चों के कपड़े सीती थी। बाबा इन पट्टियों को जोड़कर तकिये के गिलाफ, गोदड़ियाँ सीते। गोदड़ियों के अंदर पुराने फटे कपड़े डालकर ऊपर से इन नई पट्टियों को जोड़कर लगाते। बिछान और ओढ़ने के लिए इन गोदड़ियों का ही इस्तेमाल होता था। जाड़े के दिन दो-दो गोदड़ियाँ जोड़कर ओढ़ते थे। कभी-कभी काबुली वाले पठान कंबल, शाल वगैरह लेकर बस्ती में आते थे। महँगा होने से इन्हें कोई नहीं खरीदता था। इनसे रुपये-पैसे जरूर ब्याज कर लेते थे।"[44]

जहाँ पट्टियाँ मशीन साफ करके फेंक देने के लिए आती थी। वही पट्टियाँ उनके परिवार को हर ओर से संभाले हुई थी। वे पहनने, ओढ़ने हर चीज में काम आया करती थी। यह कहानी सिर्फ कौसल्या जी की नहीं है, बल्कि यह पूरे दलित समाज का आईना है। उनके पास न कोई विकल्प था और न ही उनकी स्थिति सुधारने के लिए कोई मदद ही करते थे। सभी उनका शोषण ही किया करते थे और वे सब चुपचाप सहन करते जाते थे। लेखिका अपने परिवार से जुड़ी और बातें बताती हैं कि - "माँ मिल से आते वक्त रास्ते में पड़ा गोबर उठाकर ले आती थी। यह घर लीपन के लिए काम आता था और जलाने के लिए उपले बनाने के काम भी आता था। हमारे स्कूल के रास्ते में सीता बाड़ी की टेकड़ी के नीचे बहुत बड़ा मैदान था। वहाँ बहुत घास उगती थी इसलिए वहाँ

गाये-भैंसे चरती थी। स्कूल से आते वक्त मैं या मेरी बहन गाय का गोबर इकट्ठा करती थी। कभी में गोबर उठाती तो बहन इधर-उधर देखती, कोई आता दिखता तो मुझे झट इशारा करती थी। मैं गोबर उठाना छोड़कर खड़ी हो जाती थी। गोबर उठाने में शर्म लगती थी परन्तु उपले बन जाने से कुछ घर के लिए मदद होगी, यह भावना मन में रहती थी। हम इस गोबर को पुलिया के नीचे छुपा देती थी। माँ जब मिल से वापस आती थी, तब हम उन्हें बताती थी कि गोबर कहाँ छिपा रखा है। वह टोकरी लेकर जाती थी और गोबर उठा लाती थी। गोबर के उपले बनाकर घर के ऊपर सुखाती थी। कुछ दिन बाद हमने अपने स्कूल के जाने का रास्ता बदल दिया था। अब हम स्टेशन के रास्ते से स्कूल जाती थी। स्टेशन में मालगाड़ी से पत्थर का कोयला आता था। व्यापारी लोग मालगाड़ी से आया कोयला अपने बैलगाड़ी या ट्रक-टैंपो से अपने ठिकानों पर ले जाते थे। उस वक्त रास्ते में कोयले के कुछ टुकड़े गिर जाते थे। उसको हम उठाकर एक थैली में रख लेती थी। स्कूल जाते वक्त उसे कही पुल के नीचे या किसी गड्ढ़े में छुपाकर रख देती थी और आते वक्त उसे ले आती थी। आते वक्त भी कोयला मिलता था। तब उसे भी उठाकर थैली में भर लेती थी। एक-दो वक्त का खाना बनने जितना कोयला हम बीन लेती थी।"[45]

एक-एक वक्त की रोटी की चिन्ता जहाँ हो उस घर के बच्चे वक्त से पहले ही बड़े हो जाते हैं। और माता-पिता बुजुर्ग। घर में एक वक्त का खाना पक जाए, इसके लिए माता-पिता को बोलने की जरूरत नहीं पड़ती है बच्चे अपने आप ही ईंधन तलाशने लगते हैं। हालांकी उनको यह काम करने में शर्म महसूस होती थी। पर परिवार और भूख की चिन्ता जब बच्चे के मन में आ जाती है तो बच्चे उनकी मदद अपने आप ही करने लगते हैं। वे अधिक परिश्रमी और परिवार

केन्द्रित बन जाते हैं, क्योंकि उन्हें यह पता रहता है कि वे कहाँ से आये हैं और उनके आगे-पिछे संभालने वाला कोई नहीं है।

लेखिका उसी के समाज की एक लड़की के बारे में बताती है। जहाँ उसकी माँ के पागल हो जाने के बाद घर की सारी जिम्मेदारियाँ उस पर आ जाती हैं। कौसल्या जी बताती हैं कि - "मेरी कक्षा में हमारे समाज की एक लड़की पढ़ती थी, वह बहुत दूर से स्कूल आती थी। कभी-कभी वह कक्षा में सो जाती थी। शिक्षक उसको बहुत डाँटते थे। कक्षा की लड़कियाँ उसका बहुत मजाक उड़ती थी। 'कुंभकर्ण की बहन' कहकर चिढ़ाती थी। तब वह बहुत रोती थी। उसका रोना देखकर मुझे भी रोना आता था। उसने मुझे बताया कि वह सवेरे चार बजे उठकर बर्तन झाड़ू, खाना बनाना वगैरह सब घर का काम करके आती थी। उसकी माँ थोड़ी पागल सी हो गई थी और घर से निकल जाती थी। उसके पिता दर्जी का काम करते थे। शाम को घर का काम करके वह कभी-कभी पिताजी को शर्ट-ब्लाउजों में बटन लगाने में भी मदद करती थी। बहुत देर हो जाती थी सोने में और थकावट के मारे उसे खूब नींद आने लगती थी। उसके बहन-भाई भी स्कूल में पढ़ने जाते थे। काम का सारा बोझ उसी पर रहता था। फिर भी उसने मैट्रिक पास किया। बाद में इंटर मीडिएट तक भी पढी। उसके बाद उसकी और मेरी मुलाकात नहीं हुई।"[46]

लड़कियों को अपनी उड़ान कहा तक भरनी है, इसका पता उन्हें रहता है। उसके लिए वह मेहनत भी करती है। माँ के बाद घर के सारे काम की जिम्मेदारियाँ बेटियों पर आ जाती है। पिछड़े परिवारों की बेटियाँ स्वत: ही उन जिम्मेदारियों को अपना लेती है। साथ ही शिक्षा को भी लड़कियाँ अत्यधिक महत्त्व देती हैं। क्योंकि हर तरह से हाशिए पर रहने का दुख शादी के बाद फिर से वे भोगना नहीं चाहती हैं। पर कितनों के सपने साकार हो पाते हैं। कुछ की पढ़ाई तो बीच

में ही छूट जाती है, तो कुछ पति के अत्याचारों को सहते हुए घुट-घुट कर जीवन जीती हैं। ऐसा ही कौसल्या जी के साथ भी हुआ। बहुत कठिनाईयों का सामना कर पढ़ाई की, किन्तु परिणाम शून्य ही निकला। पति से रोज़-रोज़ मार खाती। वे एक-एक पैसे के लिए मोहताज होकर अपना वैवाहिक जीवन बिताने को मजबूर थी। लेखिका बताती हैं कि - "माँ कभी-कभी नागपुर से कोई आता उसके हाथ कुछ पैसे, मिठाई बच्चों के लिए भेज देती थी। साथ में बड़ियाँ-पापड़, सेंवइयाँ वगैरह भी भेज देती थी। पैसे मैं बचाकर रखती, कभी सब्जी आदि खरीदने पर कुछ पैसे बचते वह भी रखती। अखबार की रद्दी बेचकर भी कुछ पैसे आते। उसी से मेरा अपना खर्चा चल जाता था। रिटायर होने के बाद देवेंद्र कुमार रद्दी अखबार बेचकर उसके पैसे खुद रखने लगा। तंगी रहती ही थी क्योंकि देवेंद्र कुमार खर्च के लिए मुझे पैसे नहीं देते थे।"[47]

पारिवारिक जीवन में अधिकतर महिलाएँ शोषण का शिकार होती हैं। इसके लिए पति के साथ-साथ उनके माँ-बाप भी कम दोषी नहीं हैं। क्योंकि बचपन से ही लड़कियों को यह सीख दी जाती है कि भला हो, बुरा हो तेरा पति, तेरा देवता है। उसकी हर आज्ञा का पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। इसी बात का फायदा पति उठाया करते हैं। क्योंकि इनको यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ गई है कि मेरे बिना तुम्हारी कोई औकात नहीं है। लेखिका (स्त्री) की क्या जरूरत है, उसे क्या चाहिए इस पर ध्यान कभी नहीं दिया गया। यह काम उनके हिसाब से केवल समय की बर्बादी है। कौसल्या जी बताती हैं - "दफ्तर के काम और लिखना यही उसकी चिन्ता थी। मुझे किसी चीज की जरूरत है, इस पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया।"[48]

फ्रांसीसी लेखिका सीमोन द बोउवार कहती हैं - "दरअसल स्त्रियों के साथ सबसे बड़ी त्रासदी उनका स्त्री होना है। नई सामाजिक व्यवस्था में उनका अस्तित्व एक ऐसी स्त्री के रूप में

प्रचलित हुआ है कि उन्हें अपने आपको 'अन्यनिष्ठ' और 'वस्तुनिष्ठ' मान लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[49] स्त्रियों को समाज में वैसे ही तैयार किया जाता है जिसमें उनको जितना मिले उतने में ही जरूरत से अधिक खुश हो जाती हैं। इस तरह स्त्रियों का जीवन पारिवारिक और सामाजिक दोनों तरफ से ही कैदियों जैसा बन कर रह जाता है।

दलितों की आर्थिक स्थिति जब ठीक रहती है, तब स्त्रियाँ ढेर सारा गहना बनवा कर रखती हैं। और वही गहने पारिवारिक स्थिति जब खराब होती है तो काम आते हैं। उन्हीं गहनों को गिरवी रखकर पैसों का इंतजाम किया जाता है। सुशीला टाकभौरे जी के अपने परिवार का गुजारा किस तरह से होता था। यह बताते हुए लिखती हैं - "आर्थिक कठिनाई के दिनो में गहने गिरवी रखकर खर्च चलाते थे। कभी गहने बिक जाते थे। समय अपनी रफ्तार से आगे बढ़ता रहा। दैनिक और वार्षिक रूप में जीवन चलता रहा। मौसम बदलने पर समय बीतने का आभास होता था। कभी ठंड, कभी गरमी, कभी बरसात से लगता वर्ष बीत रहे हैं।"[50]

गाँव और दलितों के घरों में भोजन से ज्यादा अंधविश्वास का दाना पकता है। लोग अपने हिसाब से कहानियाँ बनाते हैं, उसी में ही व्यस्त रहकर अपनी समस्याएँ, पीड़ा भुलाने की कोशिश करते हैं। सुशीला जी लिखती हैं - "गाँव की बातें ही अलग होती हैं। जनमानस में व्याप्त अंधविश्वास अच्छे-भले समझदार लोगों को भी अंधविश्वासी बना देता है। हमारे लोग भी इससे प्रभावित थे। घर के ऊपर बैठा कौआ काँव-काँव करता तब लोगों को विश्वास हो जाता कि उनके घर मेहमान आने वाले हैं। रोटी बनाते समय तवे के ऊपर आग चमकती, तब महिलाएँ कहती - "तवा हँस रहा है, मेहमान आयेंगे।" ऐसे समय में लोग नये खर्च की आशंका से परेशान भी हो जाते थे। सोमवार के दिन की सोमवती अमावस्या को बहुत महत्त्व दिया जाता था। माँ उस दिन

बस से होशंगाबाद जाकर नर्मदा नदी के घाट पर नहाती थी। परिवार की खुशहाली और सुख-संपन्नता के लिए माँ गरमी, बरसात, ठंड - हर मौसम में नर्मदा नहाने जाती थी। । यह हिन्दू धर्म का अंधविश्वास था।

गाँव के लोग खाली समय में कुछ न कुछ करने का बहाना ढूँढ़ लेते थे। कभी धर्माडम्बर, कभी अंधविश्वास के नाम पर कुछ न कुछ चलता रहता। लोग उसी में व्यस्त रहते हुए अपने कष्ट और समस्याएँ भूले रहते थे।"[51]

दलितों का परिवार अंधविश्वास का ताना-वाना जोड़कर उसमें ही अपनी समृद्धि ढूँढ़ने लगता है। क्योंकि समाज से तो उन्हें उत्पीड़न ही सहना पड़ता है, जिस कारण वह समझती है कि माँ नर्मदा उनका कल्याण करेंगी। उनके परिवार की रक्षा और उन्नती करेंगी। इसी अंधश्रद्धा में लोग समाज के धूर्त ठेकेदारों के हत्थे चढ़ जाते हैं।

डॉ. सुशीला टाकभौरे डॉ. अजित सिंह से बातचीत कर अपने साक्षात्कार में लिखती हैं, जब अजित सिहं ने यह प्रश्न पूछा कि - "आपने कविता, कहानी, लघुकथा, नाटक, एकांकी, लेख, निबंध हिन्दी की लगभग सभी विधाओं में लेखन किया। वे कौन से पहलू हैं जिन्होंने आत्मकथा लेखन के लिए प्रेरित किया?" सुशीला जी उत्तर देते हुए कहती हैं कि - "आत्मकथा लेखन का आधार है - अपने जीवन का सच्च चित्र समाज के समक्ष प्रस्तुत करना। केवल इतना ही नहीं, बल्कि अपने जीवन की परिस्थितियों से समाज को परिचित कराना, या अपने संघर्षों को सच्चे उदाहरणों से समाज के सामने रखना है। मेरी आत्मकथा एक वंचित, अभावग्रसित अछूत जाति की कथा है। यह एक अछूत लड़की की मानसिकता को पंगु बनाए जाने की सत्य-कथा है। यह समाज में शोषित, पीड़ित, अबला नारी के शोषण - उत्पीड़न की कथा है। उच्च शिक्षा पाकर

भी, जाति भेद से पीड़ित और लगातार अपमानित होते रहने की कथा है। यह शोषण - उत्पीड़न की रीति परम्पराओं को नकारने की और सबलता के साथ, मुँहतोड़ जबाव देने की कथा है। एक जिम्मेदार पत्नी, कर्तव्यनिष्ठ माँ की कहानी है, अपने पिछड़े जाति समुदाय और शोषित, पीड़ित महिला समुदाय की जागृति के लिए, दलित मुक्ति आंदोलन और दलित महिला मुक्ति आंदोलन से जुड़ी कार्यकर्ता महिला की कथा है।

ये सभी तत्व अलग-अलग कथा-कहानियों में बताने के बदले, मैंने इन्हें सच्चे रूप में 'आत्मकथा' में पाठक समाज के सामने रख दिए हैं। आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित होने का यही कारण है कि मैं अपने जीवन की इतनी अधिक घटनाओं को सिलसिलेवार सही रूप में सबके सामने, एक साथ रखूँ और समाज में यह प्रश्न पूछ सकूँ कि मेरी इस जीवनकथा के दर्द का जिम्मेदार कौन है? समाज के वर्णभेद, जातिभेद, स्त्री- पुरुष असमानता का जिम्मेदार कौन है? कैसे आएगी समाज में समानता? कैसे होगा इस तरह के शिकंजों के दर्द का निवारण? जिससे दलित महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित हो जाए और दलित महिलाएँ भी महिला आरक्षण का पूरा लाभ ले सकें। जीवन के हर क्षेत्र में महिलाएँ सामने आएंगी, तभी महिलाओं के प्रति पुरुष वर्ग की सोच-विचार, दृष्टिकोण बदल सकेगा और समाज प्रगति, परिवर्तन की ओर आगे बढ़ सकेगा।"[52]

सुशीला जी के इस कथन से स्पष्ट है कि वह अपने जीवन के जुड़े शिकंजों से परेशान थी। उन्हें सामाजिक, पारिवारिक, मानसिक हर तरह की कठिनाईयों का सामना करना पड़ा और साथ ही समाज के लिए यह प्रश्न छोड़ा कि उन्होंने तो इतनी सारी तकलीफों का सामना किया

और सफल भी हो पाई, किन्तु क्या शेष स्त्रियाँ परिस्थितियों से लड़ पायेंगी या फिर उन्हे ऐसे ही शिकंजों का दर्द सहते-सहते अपना जीवन समाप्त करना होगा?

कौसल्या जी को अपने परिवार वालों से बहुत हिम्मत और साहस मिला। उनके परिवार के विचार अन्य दलित परिवारों से बिल्कुल भिन्न थे। जिसके कारण उनके भाई, बहन और वे खुद इतना पढ़ पाई। उनके परिवार के बारे में कुछ इस प्रकार चित्रित किया गया है - "कौसल्या ने बचपन से ही दायित्वों को अपने ऊपर ले लिया था। अपने घर में सब एक साथ मिलकर परस्पर सहयोग एवं स्नेह के साथ आपस में काम बाँटकर करते थे। एक प्रकार से उनके घर का वातावरण बहुत स्नेहिल था। वे बस्ती के अन्य दलित घर से बिल्कुल अलग होकर सोचने-समझने वाले थे। इसलिए कौसल्या बहुत हिम्मत के साथ सभी प्रकार के कामों को संभालती थी। इसके कई उदाहरण उन्होंने आत्मकथा में दिए हैं। यह भी नहीं, स्त्री होने के नाते जहाँ-जहाँ उनका शोषण शादी के पहले हुआ उन सबका सामना किया। जब पिता द्वारा खरीदी गई साईकिल को चोरी का माल कहकर शिकायत की गई तब जाँच के लिए पुलिस इंस्पेक्टर को उसने यह सत्य समझा दिया कि उनके प्रति बस्तीवालों की ईर्ष्या के कारण शिकायत की गई। उनकी बातों से इंस्पेक्टर समझ गया कि बस्ती के लोग इन्हें तंग करते थे। इंस्पेक्टर अब उनकी मदद के लिए तैयार हो गया।"[53]

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि परिवार ही मनुष्य की असली ताकत होती है। जब घर वाले मुश्किल समय में लड़ने की हिम्मत और मनोबल बढ़ाते हैं तो कठिन-से-कठिन परिस्थितियों से भी लड़कर उसे पार किया जा सकता है। एक लड़की द्वारा इतना साहस कर पाना कोई आम बात नहीं थी, जबकि वह लड़की दलित परिवार की ही क्यों न हो।

विवाह के बाद सुशीला जी को किसी भी प्रकार का मान-सम्मान, प्रेम-दुलार नसीब नहीं हुआ। विवाह के लिए लेखिका ने हाँ भरी थी। इसके पीछे भारतीय समाज की पिछड़ी हुई रूढ़ीवादी मानसिकता थी। शादी-ब्याह का फैसला घर के बड़े बुढ़े करते हैं। इसमें लड़कियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसी सोच के कारण सुशीला जी का ब्याह एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ करा दिया गया था। लेखिका बताती हैं - "विवाह से पहले इस बीच सिर्फ एक बार टाकभौरे जी अपनी माँ और बहन के साथ राखी के त्योंहार पर रस्म निभाने के लिए बानापुरा आये थे। तब भी मैंने यही सोचा था - "मुझे क्या देखना है? जो देखना है मेरे माता-पिता और भाई-भाभी देखेंगे। जब मेरी चिन्ता करने वाले हैं तब मैं क्यों अपनी चिन्ता करूँ।"[54]

परिवार में यह मानसिकता लड़कियों के मस्तिष्क में बचपन से ही बैठा दी जाती है कि लड़कियों को शादी-ब्याह के मामलों में कुछ नहीं बोलना चाहिए। जिसका परिणाम कभी काल बहुत भयानक भी हो जाता है। मानव के विकास में परिवार का अहम योगदान रहता है। किसी भी बच्चे के भविष्य का निर्माण यहीं से तय होता है।

Ξ)<u>उत्पीड़न</u> : इस समाज में स्त्री होकर जन्म लेना ही बहुत बड़ा उत्पीड़न भरा है। उत्पीड़न इसलिए नहीं कि स्त्री होना पसंद नहीं है, बल्कि स्त्रियों की छवि समाज में कुछ इस तरह बनाई गई है कि उन्हें कुछ भी करने से पहले दस बार सोचना पड़ता है।

दलित स्त्रियों का जीवन कभी सामान्य नहीं होता क्योंकि वे हर तरफ से उत्पीड़ित होती हैं। कुछ तो इसे अपना नसीब समझ कर स्वीकार कर लेती हैं और जो विद्रोह करती हैं उन्हें

समाज द्वारा अच्छा नहीं समझा जाता है। दलित स्त्री को उत्पीड़न के विविध रूपों से गुजरना पड़ता है - जातिगत उत्पीड़न, मानसिक उत्पीड़न, शारीरिक उत्पीड़न आदि।

गौरतलब है कि इन दलित महिला आत्मकथाओं से हम उनके बारे में जान पाते हैं। वे शिक्षित वर्ग की महिलाएँ हैं तभी अपना जीवन लोगों के सामने उजागर कर पा रही हैं। किन्तु ऐसी बहुत सी दलित महिलाएँ हैं जो शिक्षित नहीं हो पाई - अपनी आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक परिस्थितियों के कारण। ऐसे में यह पता करना मुश्किल है कि कितनी महिलाएँ किस-किस तरह के उत्पीड़न का शिकार हो रही हैं। दलितों में उच्च शिक्षित महिलाओं की संख्या बहुत कम है। अगर स्कूल जाए तो भी किन्हीं मज़बूरियों के कारण वे बीच में ही पढ़ाई छोड़ देती हैं। आँकड़ों के मुताबिक दलित महिलाओं की शिक्षा की स्थिति का सर्वेक्षण कर उन कारकों को परिभाषित किया गया है - "भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाएँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर पा रही हैं। फिर भी समग्र साक्षरता दर और सापेक्ष साक्षरता दर पुरुष साक्षरता दर की तुलना में अभी कम है। अनुसूचित जाति की महिलाओं में तो साक्षरता का प्रतिशत और भी कम ही है। कई ऐसे कारक हैं जिनसे यह स्थिति बनती है। पहले परिवार की निम्न सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति के कारण बच्चों को स्कूल नहीं भेजा जाता है। यदि बच्चे स्कूल में दाखिल भी किए जाते हैं तो बालिकाओं को स्कूल से हटा लिया जाता है और उन्हें छोटे बच्चों की देखभाल और घर के कामकाज की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। आर्थिक आवश्यकता जो बच्चों को मजदूरी करने को विवश करती है इससे भी बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं। लड़की की शादी और मातृत्व को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसलिए परिवार लड़की की शिक्षा में दुलर्भ संसाधनों नहीं लगाना चाहते।

अनुसूचित जातियों की सामाजिक अयोग्यता, शोषण, सामाजिक अधीनता का मुख्य कारण अशिक्षा था तथा यही स्थिति आज भी बनी हुई है। उनकी अशिक्षा का कारण सवर्ण हिन्दुओं द्वारा उन पर आरोपित धार्मिक और सामाजिक प्रतिबंध था। वर्तमान में शिक्षा प्रसार की व्यापक प्रक्रिया और हरिजन समुदाय के कल्याण कार्यक्रमों के द्वारा इस क्षेत्र में कुछ परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के निदर्शन में केवल महिलाएँ सम्मिलित है तथा अनुसूचित जाति महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति राष्ट्रीय संदर्भों में निम्नतम ही है। कुल में से 12% (30) महिलाएँ निरक्षर (अशिक्षित) 30% (75) महिलाएँ साक्षर, 22% (55) महिलाएँ प्राइमरी, 13.2% (33) महिलाएँ माध्यमिक, 8.8% (22) महिलाएँ उच्च माध्यमिक 72% (18) महिलाएँ स्नातक एवं 6% (15) महिलाएँ ही केवल स्नातकोत्तर हैं तथा अन्य व्यावसायिक शिक्षा यथा बी. एड, एस. टी. सी महिलाएँ 0.8% (2) हैं।"[55] यह आँकड़े तो पुराने हैं, नये में कुछ बदलाव आये होगें। किन्तु इस से यह निश्चित होता है कि जागरूकता के अभाव में ये महिलाएँ आगे नहीं बढ़ पा रही हैं।

दलित शिक्षित महिलाओं के सामाजिक कार्य में अपनी भूमिका नहीं निभाने के कारण भी ऐसा होता है। यदि वह अपना सहयोग पूर्ण रूप से दे तो सामाजिक जागरूकता फैल सकती है। कौसल्या जी कहती हैं - "कुछ दलित पढ़ी-लिखी महिलाओं में भी सामाजिक कार्य के प्रति कम रुचि है, वे अगर चाहें तो दलित महिलाओं के प्रश्न पर काम कर सकती हैं।"[56] कुछ घरेलू महिलाएं इस क्षेत्र में अपना सहयोग देना चाहती हैं ताकि उन्हें स्वतंत्रता मिल सके, किन्तु अपने पतियों के कारण वे आगे नहीं बढ़ पाती। ऐसे पति घर के भीतर तो अपनी पत्नी के साथ मार-पीट हिंसा

करते हैं, उन्हें हर रोज जलील करते है, किन्तु समाज के सामने अपनी आदर्श छवि रखते हैं। कार्यक्रमों में जोरदार भाषण देगें, उत्पीड़न से मुक्ति के बात कहेंगे। किन्तु उनकी अपनी स्त्रियाँ ही गुलामी में जी रही होती हैं। कौसल्या जी बताती हैं - "दूसरे दिन वह मेरे घर आई और कहा कि बहनजी, मेरे आदमी ने आपके सामने तो कहा कि इच्छा हो तो जा सकती है परन्तु मुझे वे कहने लगे कि ये औरतें फालतू काम करती हैं, घर बिगाड़ती हैं। अगर मैं इनका कहना नहीं मानूँगी तो ये बहुत नाराज होकर मुझे तंग करेंगे। ऐसे अनुभव आते रहे। ऐसे ही आदमी जब दलितों की सभा होती है तो कूद-कूदक भाषण देंगे कि समाज - कार्य में औरतों को भाग लेना चाहिए। ऐसे ही आदमी अपनी औरतों को संस्था में आने से रोकते है। हमें बहुत कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। घर के पुरुष ही अपनी औरतों को रोकते हैं।"[57] वैसे तो कौसल्या जी उत्पीड़न से मुक्ति की बात करती हैं, किन्तु वे स्वयं भी कई सालों तक घरेलू हिंसा और अपमान का शिकार हुई हैं। उनके पति जो समाज में एक सम्मानित पुरुष हैं, घर में उनका रूप कुछ अलग ही होता है। उन्होंने अपनी पत्नी यानी कौसल्या जी को घर में पड़ी किसी वस्तु से अधिक कभी समझा ही नहीं। वे कहती हैं - "भोपाल में मुझे पाँचवा बच्चा लड़का पैदा हुआ। उस समय को मैं भूल नहीं पाती। देवेन्द्र कुमार बीस-बाईस दिन दौरे पर रहता था। जैसे कि उसकी आदत थी, मुझे कुछ नहीं बताता। सामान बाँधता था तब ही मुझे पता लगता था कि जा रहा है। पैसे गिनकर ही देता रहा। दौरे का कार्यक्रम बनाना उनके हाथ में था। दौरा आगे-पीछे भी कर सकता था। मेरी प्रसूति के दिन एकदम नजदीक थे फिर भी दौरे का कार्यक्रम बनाया। जिस दिन दौरे पर गया हाथ में तीस रुपए पकड़ा दिए और कहा अस्पताल चली जाना। लड़की स्कूल से आई तब बुखार चढ़ा हुआ था। मैंने थर्मामीटर लगाकर देखा। उसे 102 बुखार था मैं डर गई कि मुझे कहीं अस्पताल जाना पड़ा

तो क्या करूँगी। मैं बहुत ज्यादा घबरा गई। क्योंकि दूसरे दिन उसे चिकनपॉक्स निकल आई। बुखार देखते वक्त थर्मामीटर को झटका तो हाथ से गिर गया। ऐसे ही दो थर्मामीटर टूट गए घबराहट में और नए खरीदने पड़े। तीस रुपये में से दस रुपए खर्च हो गए थे। शाम को हलका दर्द शुरू हुआ। मैं जनरल वार्ड में भरती हो गई। क्योंकि जनरल वार्ड में इलाज मुफ्त होता था। पैसे भी नहीं थे पास में। देवेन्द्र कुमार भी दौरे पर था। कब आएगा इसका भी पता नहीं था। सवेरे छ: बजे मुझे लड़का पैदा हुआ। डॉक्टरनी ने कहा कि कुछ गड़बड़ी पैदा हो गई है इसलिए एनेस्थीसिया देकर टाँके लगाने पड़ेगे। इसलिए घर के आदमी के हस्ताक्षर चाहिए। मैंने बताया कि आदमी दौरे पर है। मेरे साथ सिर्फ काम करने वाली बाई आई है। आप मेरे हस्ताक्षर ले लीजिए। बहुत कहने पर उसने मेरे हस्ताक्षर लिए।"[58] जब सब कुछ स्त्रियों को अकेले ही करना है तो शादी करने का क्या मतलब। ऐसे पुरुष घृणा के पात्र के अलावा और कुछ नहीं हो सकते। फिर भी स्त्रियाँ ऐसे रिश्तों को बचाये रखना चाहती हैं।

कौसल्या जी ने अपने पति के साथ बड़ा मुश्किल भरा दौर बिताया हैं। देवेन्द्र कुमार बच्चा पैदा होने के कई दिनों बाद तक बच्चे को देखने तक नहीं आए। प्रसूति के बाद भी माँ और भाई ने ही कौसल्या जी की देखभाल का जिम्मा संभाला। लेखिका उन दिनों को घृणा के साथ याद करती हुई कहती हैं - "भाई ने माँ को तार दिया। माँ तीसरे दिन भोपाल पहुँच गई। वह सारा दिन मेरे पास रहती थी। रात को घर चली जाती थी। काम वाली बाई बहुत अच्छी थी। घर को उसने संभालने का जिम्मा पूरी तरह निभाया। आठ दिन तक देवेन्द्र कुमार मुझे देखने भी नहीं आया। कह रहा था माँ से कि उसके पाँव में मोच आ गई थी। लेकिन दफ्तर और इधर-उधर के काम से तो जाता ही था। आठवें दिन आया पर मुझसे बात नहीं की। माँ से ही पूछा इसके टाँके

वगैरह निकाले गये क्या? फिर घर चला गया। शाम को अस्पताल में दफ्तर की जीप के ड्राइवर की पत्नी मुझे देखने आई और बताया कि आज शाम को साहब फिर दौरे पर गए हैं, इंदिरा गाँधी के साथ। श्रीमती इंदिरा गाँधी उस वक्त प्रचार और प्रसार विभाग की मंत्री थी। जाते वक्त देवेन्द्र कुमार ने दफ्तर के ही एक फिल्म ऑपरेटर को तीस रुपए पकड़ाकर कहा कि अस्पताल का बिल चुका देना और मेरी वाइफ को घर पहुँचा देना। आठवें दिन टाँके निकाल दिए गए थे। अब डॉक्टरनी ने खाना खाने के लिए कह दिया। माँ अस्पताल के पास के होटल से मेरे लिए डोसा खरीदकर लाईं। मैं डोसे पर टूट पड़ी। दस दिन से कुछ भी नहीं खाया था। दसवें दिन अस्पताल से छुट्टी मिलनी थी। माँ ने कहा कि वह घर जाकर मेरे लिए बिस्तर वगैरह ठीक करके रखेंगी और नहाने के पानी, खाने आदि का इंतजाम करके रखेंगी। माँ चली गई घर। ऑपरेटर अस्पताल के दफ्तर में गया। तब उन्होंने 200/- रुपये का बिल दिया। उसने मुझे आकर कहा कि साहब ने मुझे सिर्फ तीस रुपयें दिये हैं, तीस रुपए रोज के हिसाब से, दस दिन का कमरे का किराया, बस। मैं बहुत दुखी हो गई। माँ भी घर चली गई थी। यहाँ छुट्टी होने पर आया, सफाई कर्मचारी, सभी बख्शीश मांगते हैं। उन्हें कुछ पैसे देने ही पड़ते हैं और मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। मैंने कहा कि जाकर माँ से पैसे मांगकर लाओ। उन्हें बाद में दे देंगे। वह समझदार था। उसने कहा : “आपकी माँ को बुरा लगेगा। आप उनसे न माँगें। मैं कुछ इंतजाम करता हूँ।” वह चला गया और करीब दो बजे आया। बेचारा इधर-उधर से पैसे के इंतजाम में लगा होगा। माँ को लगा, पैसे वगैरह देकर मैं घर आ जाऊँगी, इसलिए वह मेरी राह देख रही थी कि अभी आती ही होगी। सवेरे सिर्फ चाय भेजी थी लड़के के हाथ। यह सोचकर की अब घर आकर खाना खाएगी। अस्पताल में बिल देकर रसीद वगैरह लेने में तीन बज ही गए। भूख से बेहाल हो रही थी। टैक्सी

मिल नहीं रहीं थी। बड़ी मुश्किल से चार बजे एक टैक्सी मिली। साढ़े चार बजे घर पहुँची। मुझे चक्कर आने लगा। माँ ने झटपट नहाने को पानी दिया। मैं नहाई और खाना खाकर सो गई। क्या ऐसे पति से प्यार, श्रद्धा हो सकती है? इस प्रसंग की याद आते ही मेरा खून खौलने लगता है।"[59]

दलितों में पढ़े-लिखे लोग बहुत कम होते हैं और जो पढ़ते भी हैं तो उनके अपने रिश्तेदार, पहचानवाले, गाँववाले उनके दुश्मन बन जाते। वे स्वयं दलित होते हुए भी दलितों को आगे बढ़ते देखना बर्दाश्त नहीं कर पाते। वे इसी ताक में रहते हैं कि किस तरह से उन्हें पीछे धकेला जाए और इन्हें भी अपनी तरह अपमानित और अभिशाप भरा जीवन जीने के लिए मजबूर किया जाए। कौसल्या जी के परिवार के साथ भी ऐसा बहुत हुआ। वे बताती हैं कि - "मैंने स्कूल में साइकिल चलाना सीखा था। एक आना घंटे के हिसाब से दुकान से साइकिल किराये पर मिल जाती थी। बस्ती के लड़के जबरदस्ती मेरे आगे आते ताकि मैं गिर पड़ूँ और उन्हें हँसने का मौका मिले। बस्ती के बाहर उच्चवर्णीय लोगों के लड़के भी हम पर बहुत जलते थे : "ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो, इसका बाप तो भिखमंगा है, साइकिल पर जाती है।" कहकर वे भी साइकिल से गिराने की कोशिश करते थे। अपने को उच्चवर्णीय समझने वाली औरतें भी मुझे साइकिल पर जाता देखकर बड़े कुत्सित ढ़ंग से हँसती थी। उन्हें ताज्जुब भी होता था कि हम अछूत और मजदूर के बच्चे इतना कैसे पढ़ पाते हैं। जब मैं कॉलेज जाने लगी तब बाबा ने किसी आदमी से पुरानी लेडी साइकिल खरीदी थी, क्योंकि मेरा कॉलेज घर से काफी दूर था। तब बस सर्विस नई-नई शुरू हुई थी और हमारे पास बस का टिकट खरीदने के लिए पैसे भी नहीं होते थे। मैं रोज साइकिल पर कॉलेज जाती थी। तब बस्ती के और बस्ती के बाहर के लोग कुछ-न-कुछ ताने कसते ही रहते थे। एक बार मैं कॉलेज से घर वापस आ रही थी। मैंने आँगन में लोगों की

भीड़ देखी। मैं अपने मन में बहुत डर गई थी कि कुछ अनिष्ट तो नहीं घटा। मैं भीड़ को चीरते हुई घर के अंदर पहुँची। बाबा कमरे में एक लोहे के बक्से में कुछ ढूँढ़ रहे थे और उनके सामने आँगन में तीस-बत्तीस साल का लड़का अच्छे पैंट-शर्ट में खड़ा था। मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था। मैंने बाबा से पूछा कि बात क्या है। वे क्या ढूँढ़ रहे है। बाबा ने बताया कि जो पैंट-शर्ट में लड़का खड़ा है, वह कह रहा है कि वह पुलिस सब-इंस्पेक्टर है, और किसी ने थाने में रिपोर्ट लिखाई है कि तुम जो साइकिल चला रही हो, वह चोरी की है और यह इंस्पेक्टर यह भी कह रहा है कि हम लोगों के पास पिस्तौल है, बिना लाइसेंस की। हमने उन्हें बस्ती के वातावरण के बारे में बताया और कहा कि हम सब बहनें पढ़ रही हैं, इसलिए कुछ आवारा लड़के और कुछ हमारे रिश्तेदार, जिनका स्वभाव जलने का है, वे लोग हमारी प्रगति नहीं देख सकते इसलिए हमें तरह-तरह से सताते हैं। वह समझदार था। वह स्वयं तेली जाति का था। वह समाज भी बहुत पिछड़ा था इसलिए वह जानता था।"[60]

सुशीला टाकभौरे जी अपनी आत्मकथा में कहती हैं कि ससुराल के सभी लोग मिल कर उनका शोषण करते थे। जरा-जरा सी बात पर डाँटना, गाली-गलौज, मारपीट आम बात थी। साथ ही मानसिक तौर पर भी बहुत यातनाएँ देते थे। शारीरिक चोट से तो फिर भी इंसान उबर सकता है, किन्तु दिल पर लगी चोट से उबरना मुश्किल हो जाता है। कई वर्ष बीत चुके हैं फिर भी यह उत्पीड़न उनके मन को झँझोड़ता रहता है। वे लिखती हैं कि - "एक बार मेरे काम में मीन-मेख, गलती निकालकर सासू माँ और ननद मुझे डाँट रही थी टाकभौरे जी से मेरी शिकायत कर रही थी। टाकभौरे जी ने कहा - "इसको ज्यादा मत बोला करो। इसकी बुद्धि सिर्फ 10-12 साल की उम्र की लड़की की बुद्धि के बराबर है। "सासू माँ बोली - क्या इसकी बुद्धि कम है?"

टाकभौरे जी बोले – बुद्धि कम नहीं है। बुद्धि का विकास नहीं हुआ है। तब सासू माँ चिन्ता के साथ ठोड़ी पर हाथ रखकर कहने लगी - "अब कैसे होगा? कैसे करेंगे?" टाकभौरे जी हँसने लगे। सासू माँ ने याद करते हुए कहा- "इसका आई क्यू टेस्ट कराना पड़ेगा?" माँ ने बेटे से कभी 'आई क्यू टेस्ट की बात सुनी होगी। माँ की बात सुनके बहन, भाई खूब हँसे। माँ भी हँसने लगी। तब मैं बी.एड कॉलेज में पढ़ रही थी। बी.एड के पाठ्यक्रम में 'आई क्यू टेस्ट' का अध्याय था। मुझे उनकी बातों से और हँसने से बहुत अपमान महसूस हुआ था। हो सकता है टाकभौरे जी ने यह बात सामान्य रूप से कही होगी लेकिन बातों के गूढ़ अर्थ ने मुझे दुखी कर दिया था। क्या मैं मंद बुद्धि हूँ? या एबनार्मल हूँ? अच्छे भले लोगों को इसी तरह पागल साबित किया जाता होगा। तब मुझे बहुत गुस्सा आया था। मगर मैं अपना गुस्सा नहीं बता सकती थी। उनका परिणाम होता मारपीट और उसका दर्द मुझे ही सहना पड़ता। तब खामोश समुन्दर की तरह अपने दिल में अपने कड़वे अनुभवों को इकट्ठा किया था।"[61]

सुशीला जी कहती हैं वे गरीब घर की लड़की थी। उनका परिवार मज़दूरी करके अपना जीवन चलाता था। यह सब देख समझकर उन्होंने रिश्ता भेजा था। किन्तु विवाह के बाद इसी गरीबी के कारण उनके साथ नौकरानी से भी बुरा व्यवहार किया जाता था। वे कहती हैं - "ननद को साफ शब्दों में कहा था- "शीला को हमारी सेवा करने के लिए लाए हैं।" यह सुनकर मेरे मन को एक गहरी चोट लगी थी, साथ ही बहुत अजीब भी लगा था, क्या सिर्फ सास-ननद की सेवा करने के लिए शादी होती है?"[62]

टाकभौरे जी का व्यवहार तो कुछ ऐसा था मानो तुम्हें मुफ्त का खाना-खाने नहीं देंगे। कमा के लाओ तो खाना मिलेगा। विवाह के तुरन्त बाद ही नौकरी करवाने की जल्दबाजी, क्या

एक लड़की इसलिए शादी करती है? सुशीला जी लिखती हैं - "वे मुझे साथ ले जाने की खुशी के बदले स्कूल से सर्टिफिकेट, कास्ट सर्टिफिकेट निकलवाने की चिन्ता अधिक कर रहे थे। यह देखकर मुझे आभास हुआ था- "क्या मुझसे शादी सिर्फ नौकरी करवाने के लिए की गई है?" एक अजनबी के साथ अकेले बिदा होते समय मैं माँ और पिताजी के गले लगकर बहुत रोई थी। तब पिताजी ने चिन्ता के साथ कहा था- "क्या बात है? लड़की इतना क्यों रो रही है?" माँ ने पिताजी को समझाया था- "ऐसे ही रो रही है। ससुराल जाते समय लड़कियाँ रोती हैं।"[63]

टाकभौरे जी के व्यवहार से यह साफ पता चलता है कि उन्होंने सुशीला जी को पसंद नहीं किया था। बल्कि उनके पढ़ाई को पसंद किया था। उनकी आयु भी बहुत हो चुकी थी इसलिए उन्हें एक पढ़ी लड़की चाहिए थी जो उन्हें कमा कर दे। वे बताती हैं - "अपनी हैसियत के अनुसार माँ ने मुझे नई साड़ी और ब्लाउज खरीदकर दिया था। टाकभौरे जी को फुलपैंट और सर्ट का कपड़ा खरीदकर दिया था। 20 रु हाथ में दिये थे। उस समय माँ के पास अधिक रुपए नहीं थे। रास्ते भर टाकभौरे जी ने कोई बात नहीं की, मगर घर आते ही अपनी माँ और बहन के सामने उन्होंने पैंट और सर्ट का कपड़ा मेरे ऊपर फेंक दिया। गुस्से के साथ 20 रु मेरे ऊपर फेंक कर कहा- "इन्हें तू ही रख ले, तेरी माँ ने यही दिया है। वह क्या मुझे इसी लायक समझती है?" मैं टाकभौरे जी का यह रूप आश्चर्य के साथ देखती रह गई, तब सास, ननद के सामने मुझे बहुत अपमान महसूस हुआ। मैंने किसी अन्य दलित पुरुष को ऐसा करते नहीं देखा था।"[64]

सुशीला जी को यह तो पता है कि अन्याय सहने से लोग अधिक अन्याय करने लगते हैं। लेकिन इसका विरोध करने का साहस उनमें नहीं था। वे लिखती हैं- "अन्याय के सामने सिर झुकाना गलत है। गलत परम्पराओं को बदलना चाहिए। कई बार लोग गलत बातों को परम्परा

मानकर चलाते रहते हैं, जब तक कि उन्हें बात न बताई जाए। मैंने इस बात को उस समय समझा था। मगर विरोध करने की हिम्मत मुझमें नहीं थी। सही बात बताने के लिए भी साहस चाहिए। मैं डरी-सहमी रहती थी। तब निडरता के साथ अत्याचार किये जाते। मेडिकल सर्वेण्ड क्वार्टर की ही बात है, एक दिन टाकभौरे जी स्कूल से शाम को घर आये तब मैं कीचन में बैठकर जर्मन की छोटी थाली में रोटी सब्जी खा रही थी। पता नहीं किस बात पर माँ और बहन से इनकी झंझट शुरू हुई सीधे मेरे पास आकर मेरी थाली को ठोकर मारी। थाली दूर गिरी। सब्जी रोटी बिखर गई। मैं चुपचाप देखती रह गई। 'किसी की थाली में खाना खाते समय क्या इस तरह कोई लात मारता है?' यह मैंने जीवन में पहली बार देखा था। मन वेदना से भर गया, गला रुँध गया। आँखे भीग गई। फिर मैंने सोचा खाना-खाते समय किसी की थाली को लात मारने से पाप लगता है, टाकभौरे जी को इस पाप से बचाने के लिए मैंने थाली उठाकर उसमें गिरी सब्जी रोटी रखी और उसमें से एक कौर लेकर खा लिया। तब तक आँखों से आँसू बहने लगे थे लेकिन न किसी ने मेरी आँसुओं की परवाह की, न ही मेरी भावना को समझा कि मेरे दिल पर कैसी चोट लगी है।"[65]

सुशीला जी ने बी.ए, बी.एड किया हुआ था। फिर भी उनके पति उन्हें दो - कौड़ी की इज्जत भी नहीं देते थे। टाकभौरे जी के हिसाब से पत्नी घर में रहती है। वह बेकार है, उनका कोई काम धंधा नहीं रहता है। वह दिन भर आराम करती रहती है। चाहे वह दिन भर मर-मर कर काम क्यों न करें फिर भी उन्हें यह सुनना पड़ता है कि तुम्हारा काम ही क्या है। पुरुषों के हिसाब से जो पुरुष बाहर काम करते है, वही मेहनतकश हैं, कामगार हैं बाकि सब तो मुफ्त की रोटियाँ तोड़ते हैं। परिवार पति-पत्नी के सहयोग, साझेदारी और समझदारी के बल पर अच्छे से चल पाता है, किन्तु यह बात बहुत कम लोग ही समझ पाते हैं। लेखिका लिखती हैं- "मैं दिन भर घर

का काम करती, उस दिन स्कूल जाते समय टाकभौरे जी अपना कुछ लिखा हुआ कागज ढूँढ रहे थे। मैंने उनसे पूछा और मैं भी ढूँढ़ने लगी। वे स्कूल चले गये। मैं यह चाहती थी कि किसी भी तरह वह कागज़ ढूँढ लूँ जब वे शाम को घर आयेंगे, मैं उन्हें कागज़ दूँगी तब वे कितने खुश हो जायेंगे। इस बात की प्रेरणा से मैं सुबह 11 बजे से शाम 6 बजे तक एक-एक जगह बार-बार वह कागज खोजती रही। मगर वह नहीं मिला। शाम को टाकभौरे जी घर आये तब मैंने निराशा के साथ कहा - "वह कागज तो नहीं मिला।" उन्होंने हँसते हुए मुझे देखा और कहा - "वह तो तभी मिल गया था। मैं उसे लेकर स्कूल गया था।" मैं आश्चर्चकित रह गई। पूरे दिन का शारीरिक और मानसिक श्रम पहाड़ जैसा लगा। मैंने कहा - "आपने बताया क्यों नहीं? मैं पूरा दिन उसे ढूँढती रही।" उन्होंने हँसते हुए कहा - "तो क्या हुआ? तुम्हें काम ही क्या था, ढूँढ़ती रही तो अच्छा किया।" क्या दिनभर के घर के काम कोई काम नहीं थे? मैं चुप रह गई। मैं चुप रहती थी, मगर ह्रदय में सागर मंथन होता रहता था, क्यों किया जाता है मेरे साथ ऐसा व्यवहार? बार-बार मेरे दिल को इस तरह चोट क्यों पहुँचायी जाती है? ताकि मानसिक रूप से मुझे बोधशून्य बना दिया जाये? मैं अच्छे व्यवहार की कभी आशा न करूँ।"[66]

एक स्त्री के लिए इससे बड़ी दुख की बात कोई नहीं कि उसे बाँझ-बंझोटों की गाली दे। यह बातें सुशीला जी के साथ बार-बार हुई हैं। सुशीला जी की ननद उन्हें पीड़ा पहुँचाने के लिए यह बातें दोहराती रहती थी, इस बात के लिए उन्हें गाली देती रहती थी। उन्हें मौका मिलते ही इसी बात के लिए कोसना आरंभ कर देती थी ताकि उनका मनोबल पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो जाए और वे उनके अधीन अपने को हमेशा हीन समझती रहे। इस तरह का उत्पीड़न सुशीला जी पर बहुत आघात पहुँचाता था। उनकी दिमागी हालत तक खराब होने लग गई थी। वे लिखती हैं- "मैं

कल्पनाओं में सुख खोजने का प्रयत्न करती थी। शादी के बाद तीन साल तक संतान न होने पर मुझे जली-कटी बातें सुनाई जाती, सुनकर मन दुखी हो जाता था। यह भी मेरे जीवन का अलग अध्याय है। ननद मुझ पर अपनी नाराजी बताते हुए कहती थी - "कोई किसी से यह नहीं पूछता कि तुम्हारे पास कितना धन है? यह पूछते हैं- कितने बच्चे हैं? इसलिए तुम अपनी पूरी कमाई मेरे और मेरे बच्चों के लिए खर्च करते रहो। एक दिन सासू माँ ने नाराजी के साथ कहा - "हथेली पर बाल उग जायेंगे, पर इसे बच्चें नहीं होंगे।" सासू माँ की यह बात सुनकर मुझे बहुत दुख हुआ। 1974 से 77 तक यही बातें सुनते-सुनते मैं इतनी दुखी हो गई थी कि रास्ता चलते किसी के बच्चे को देखती तो देखती ही रह जाती। जानवरों के छोटे बच्चे को भी ममता के साथ देखती। उन दिनों मैं कहती थी- "भगवान एक संतान दे दो, भले ही कानी चिड़िया दे दो ....."ताजबाग वाले ताजुद्दीन बाबा की दरगाह जाकर मन्नतें माँगती थी- "बाबा, मुझे एक बच्चा दे दो, भले ही कानी चिड़िया दे दो।" मैंने दुख और वेदना के साथ कई बार यह भीग माँगी थी। कितना लम्बा समय ऐसे ही बीता था। सामाजिक परम्पराएँ और धार्मिक अंधविश्वास महिलाओं को अधिक मजबूर बना देते हैं। हालात ने मुझे भी कमजोर बना दिया था। अपमान और दुखों ने मुझे मजबूर कर दिया था।"[67]

समाज में वर्ग तो बना दिया, किन्तु उस वर्ग के भीतर और वर्ग बन चुका है- स्त्री और पुरुष का। स्त्री हर समाज में, हर वर्ग में अत्याचार और अमानवीय व्यवहार का शिकार होती ही है। "बंद खिड़कियों- दरवाजों के भीतर भी स्त्री स्वयं को कभी सुरक्षित नहीं समझती, क्योंकि उसका यह घर पुरुष की अपरिचित दुनिया से घिरा है जिसमें प्रवेश करने का वह साहस नहीं जुटा

पाती।"[68] यह सजा वे जन्म से लेकर मृत्यु तक अपने साथ लेकर जीती हैं, क्योंकि वे यह समझने लगी हैं कि यह उनका भाग्य ही है और उन्हें यह सब सहना ही पड़ता है।

सुशीला जी के दलित समाज की शिक्षित स्त्री होने के कारण उनके यहाँ ईर्ष्यालु व्यक्तियों की कमी नहीं थी। उन्हें मातृसेवा संघ में नौकरी करते समय बहुत सी साजिशों का शिकार, अपमान और जिल्लत का सामना करना पड़ा। लेखिका बताती हैं- "मातृसेवा संघ की नौकरी करते समय वहाँ मिले अपमान, उपेक्षा,आत्मग्लानि और छल-प्रपंच के व्यवहार की कई बातें हैं, जो आज भी मेरे मन को दुखी कर देती है। मातृसेवा संघ के वार्डन कमल पाण्डेय ब्राह्मण थी। मैं बी.ए, बी.एड हूँ इस बात से वह मुझसे ईर्ष्या करती थी और मुझे बहुत परेशान करती थी। वह वार्ड की गंदी चादरें अलमारियों में छिपा देती थी और मुझ पर आरोप लगाती कि चादरें चुराकर मैंने अस्पताल में काम करने वाले अपने रिश्तेदारों को दे दी हैं। वार्डन, नर्सों से ऐसा करवाती, फिर चिल्ला-चिल्लाकर पूरे वार्ड के लोगों को सुनाकर कहती कि मैं चोर हूँ, मैंने चादरें चुरा ली है। वार्ड में चादर कम हो गई हैं। मैं अपनी सफाई देती, मगर मेरी बात कोई नहीं सुनता था। मुझ पर चोरी का इल्जाम लगाया जाता, सबके सामने मुझे चोर - गुनहगार ठहराया जाता। अपनी स्थिति पर मुझे रोना आता, मन उदास हो जाता। क्या करूँ? कुछ भी समझ नहीं आता। मातृसेवा संघ में रोज-रोज डाँट फटकार के साथ मुझे बातें सुनाई जाती।"[69] इतने संघर्ष और साहस के बाद लेखिका आज यहाँ तक पहुँच पाई जो काबिले तारीफ है।

स्कूल को शिक्षा का मंदिर कहा जाता है जहां माना जाता है कि यहाँ सभी के साथ एक समान व्यवहार और प्रेम का बर्ताव किया जाता है। कभी किसी के साथ कुछ अन्याय नहीं होता है। यहाँ शिक्षकों को प्रभु से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। किन्तु दलितों के लिए यह मंदिर भी

खण्डहर सा प्रतीत होता है। कौसल्या जी अपनी स्कूल में घटित एक ऐसी ही घटना के बारे में बताते हुए लिखती हैं- "जब मैं प्राइमरी में चौथी कक्षा में थी, तब शिक्षिका मुझसे बहुत काम करवाती थी। कभी होटल से चाय मंगवाने भेजती थी। जाँचने की कॉपियों का बड़ा बंडल मेरे हाथ में पकड़ाकर अपने घर पहुँचाने को कहती। मेरा अपना बस्ता और जाँचने की कॉपियों का बंडल लेकर आने से मेरे हाथ दुखने लगते थे। घर स्कूल से काफी दूर था। पहुँचाने पर कभी दो बिस्कुट या अन्य कोई पदार्थ खाने को देती थी। कभी कुछ भी नहीं देती थी। कुछ लाने को भूल जाती तो मुझे अपने घर दौड़ाती। मैं चुपचाप सब कर देती थी। मेरे घटियाँ कपड़ों के कारण ब्राह्मणों की लड़कियाँ मेरे साथ दोस्ती नहीं करती थी। कुनबी की लड़कियाँ थी, तो मैं उनके साथ बैठ जाती थी। अब वे नहीं थी तो मैं अकेली ही खाने की छुट्टी में बैठकर लड़कियों का खेल देखती थी। एक बार एक लड़की की किताब शिक्षिका ने पढ़ने को ली और उसे लौटाना भूल गई। अपने स्कूल की आलमारी में उसे रख दिया और उसके ऊपर दूसरी कॉपियाँ और पुस्तकें रख देने से वह किताब दब गई। लड़की ने इधर-उधर ढूँढा परन्तु नहीं मिली। तब उसको मेरे ऊपर शक हुआ कि मैंने ही चुराई। गरीब घर की लड़की थी इसलिए मेरे ऊपर इल्जाम लगाया। शिक्षिका को भी लगा शायद मैंने ही चुराई। उस लड़की ने तो मेरी किताब छीन ली। मुझे रोना आ गया। मैं बार - बार कह रही थी कि मेरे पास नहीं है, मैंने नहीं ली, फिर भी वह मेरे ऊपर अविश्वास कर रही थी। कुछ दिन बाद शिक्षिका अपनी आलमारी ठीक-ठाक कर रही थी। तब उस लड़की की किताब वहाँ मिली। इसका मेरे मन पर गहरा असर हुआ था और मैं बहुत रोई थी।"[70] दलित और गरीबों के दिल की चोट की कोई कीमत नहीं होती है। हर कोई आसानी से चोट पहुँचाता है, लेकिन दुख की बात तो यह है कि लोगों को इस बात का एहसास तक नहीं होता है। मानों दलितों को

अपमानित करने की सरकार ने छूट दे रखी है। जातिवाद और छुआछूत से पनपी इस भेदभाव जनित खाई का खामियाजा दलितों को विभिन्न रूपों में भुगतना पड़ा है। ये उसकी एक बानगी भर है।

सुशीला जी पर किए अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह की भावना उनकी रचनाओं में स्वत: देखने को मिलती है। उनके द्वारा लिखी गई कविता 'स्वाती बूँद और खारे मोती' की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं - "

माँ बाप ने पैदा किया था

गूँगा

परिवेश ने लंगड़ा बना दिया

चलती रही

निश्चित परिपाटी पर

बैसाखियों के सहारे

कितने पड़ाव आये

बैसाखियाँ चमराती हैं

अधिक बोझ में

अकुलाकर

विस्फरित मन हुँकारते ही

बैसाखियों को तोड़ दूँ।"[71]

दलित स्त्रियों का जीवन काफी दर्द से भरा है जिनसे मुक्त होने की कोशिश हेतु वे कसमसाती रहीं, लेकिन परिवार में संतुलन बनाने और विखंडन से बचने हेतु उन्होंने परिस्थितियों के साथ समझौता किया। इसी दर्द और बैचेनी से उपजे विद्रोह को साहित्य लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया ।

धर्म के नाम पर ब्राह्मणों ने स्त्रियों को पशुओं की जगह पर ही रखा है। जैसे गाय-बैल की खरीद बिक्री होती है वैसे ही पंडित लोग बालिकाओं, बेटियों की खरीद-बिक्री करते थे। 'रतिनाथ की चाची' में एक पात्र है भोला पंडित। उसका मुख्य पेशा है अबोध कन्याओं को बूढ़ों के हाथों बेचना और 'कमीशन' खाना उसका परिचय नागार्जुन ने इन शब्दों में दिया है - "असमर्थ व्यक्तियों के प्रति इस ब्राह्मण के ह्रदय में असीम करुणा थी। कितने ही लूले-लंगड़े, अंधे, अपाहिज और बूढ़े भोला पंडित की कृपा से अधखिली कलियों जैसी बालिकाओं को गृहलक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गए। एक-एक ब्याह में पचास-पचास रुपए पंडित के बंधे हुए थे। उमानाथ की बहन को भी इन्हीं महाशय ने पैंतालिस साल के एक महामूर्ख के चंगुल में डाल दिया था। इस तरह पचीसों लड़कियाँ आपका नाम लेकर दक्षिण-पश्चिम में करम कूट रही थी।"[72]

ब्राह्मणों ने स्त्रियों और शुद्रों को एक ही कोटि में रखा है जहाँ वह हर तरह से सतायी और प्रताड़ित की जाती है। पौराणिक युग से ही स्त्रियों का कोई विशेष स्थान नहीं था। सीता-राम के लिए केवल एक हाड़- मांस की मूरत थी। जिसे वह जब चाहे जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकते थे। राम का कथन "यदि भरत यह चाहे कि मैं यह ऐलान करूँ कि भरत को राज्य मिले और वह राजा बने तो मैं सीता को, अपनी जिन्दगी को और अपनी सारी संपत्ति उसे दे दूँगा।" राम के लिए सीता केवल एक वस्तु है परन्तु उसकी नज़र में उसका कोई महत्त्व नहीं है। सीता की अग्नि परीक्षा के

समय राम, सीता से कहते हैं जब सीता लोगों के सामने पहली बार आई थी। राम का कथन है - “सीता मैंने युद्ध तुम्हारे लिए नहीं लड़ा। अपितु मैंने इसे सूर्यवंशी रघुकुल के लिए लड़ा है, उसके मान-सम्मान के लिए लड़ा है।” रानी हो या दासी, सती हो या साधारण नारी सब की स्थिति एक समान थी। वस्तु के रूप में जिसे पुरुष अपनी संपत्ति समझता है।

संदर्भ सूची

1. मेरे साक्षात्कार, डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिल्पयन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2016 पृ. 15
2. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 13
3. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 13
4. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, भूमिका से
5. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 15
6. वही, पृ. 16
7. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 13
8. वही, पृ. 16
9. वही, पृ. 16
10. वही, पृ. 15
11. वही, पृ. 16
12. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ.16
13. वही, पृ. 16
14. वही, पृ. 18
15. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 17
16. मत्स्यगंधा, होमेन बरगोहाईं, भारतीय ज्ञानपीठ, 1994, पृ. 13

हिंदी विभाग
मिज़ोरम विश्वविद्यालय
आइज़ोल -796004

केंद्रीय विश्वविद्यालय
A Central University
(Accredited by NAAC with 'A' Grade)

Department of Hindi
Mizoram University
Aizawl - 796004

दिनांक - 24/08/2022

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **संजू शर्मा** ने मेरे निर्देशन में हिंदी विभाग, मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइजोल से डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी (पीएच.डी) हिंदी की उपाधि हेतु **'हिंदी की दलित स्त्री- पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन'**, विषय पर शोध- कार्य किया है। प्रस्तुत शोध कार्य शोधार्थी की अपनी निजी गवेषणा का फल है यह इनका मौलिक कार्य है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, प्रस्तुत शोध- प्रबंध या इसके किसी भी अंश को किसी विश्वविद्यालय या संस्थान में किसी प्रकार की उपाधि हेतु अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं प्रस्तुत शोध- प्रबंध को मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइजोल की डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.-हिंदी) की उपाधि हेतु मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत करने की संस्तुति करती हूँ।

(डॉ. सुषमा कुमारी)

शोध-निर्देशक

हिंदी विभाग

मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइजोल

अगस्त-2022

घोषणा- पत्र

मैं संजू शर्मा एतद द्वारा घोषित करती हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध की विषय सामग्री मेरे द्वारा किए गए शोध कार्य का सुपरिणाम है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, न किसी अन्य को कोई उपाधि प्रदान की गयी है न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्थान में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध मिज़ोरम विश्वविद्यालय के सम्मुख हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी (पीएच.डी) हिंदी की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

(प्रो. सुशील कुमार शर्मा)	**(डॉ. सुषमा कुमारी)**	**(संजू शर्मा)**
अध्यक्ष	**शोध-निर्देशक**	**अनुसंधित्सु**

हिंदी की दलित स्त्री-पुरुष आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

HINDI KI DALIT STREE-PURUSH AATMAKATHAON KA TULANATMAK ADHYAYAN

[मिज़ोरम विश्वविद्यालय के हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध सार]

शोध- प्रबंध सार

ABSTRACT

शोध-निर्देशक

डॉ. सुषमा कुमारी

शोधार्थी

संजू शर्मा

Supervisor

Dr. Sushma Kumari

Sanju Sharma

Ph.D. Regn.No.: MZU/Ph.D/1132 of 06.11.2017

हिंदी विभाग

मिज़ोरम विश्वविद्यालय

आइज़ोल – 796004

अगस्त-2022